TEXT PROBLEM WITHIN THE BOOK ONLY

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182514

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H83/M67K Accession No. G.H.1572

Author मिश्र, द्विजेन्द्रनाथ।

Title कच्चा धागा।1945—

This book should be returned on or before the date last marked below.

निर्गुण सीरीज नं० ३

कच्चा धागा

लेखक

श्री द्विजेन्द्रनाथ मिश्र 'निर्गुण'

शिक्षा सदन

४।१३३, गोवर्द्धन सराय, बनारस

प्रकाशक
धीरेन्द्रचन्द्र वीरेन्द्रचन्द्र
शिक्षा सदन
४।१३३, गोवर्द्धन सराय, बनारस

प्रथम, संस्करण—सन् १९४५ ई०

हमारे पंजाब व राजपूताना के सोल एजेन्ट—
प्रभात प्रकाशन, दरीबा कलाँ, देहली।

मूल्य दो रुपया

मुद्रक
गोपाल प्रेस,
जालिपादेवी रोड,
बनारस

दो अध्याय

बेवसी की ज़िन्दगी वह होती है जो उल्लास और आशा से रहित हो और जो एक से ढर्रे पर बिना रद्दो-बदल के दिन-रात चलती रहे। ऐसे में एक ऊबन तो ज़रूर होती है, पर वह इतनी असहनीय और पुरअसर नहीं होती कि कोई गले में रस्सी डाल कर मर जाय। वैसे आदमी शायद बहुत दिन तक ज़िन्दा रहते हैं।

मनोहरलाल का यह सब अनुभूत है। उसे भी लगता है कि ज़िन्दगी उस की बहुत लम्बी हो गई है कि जैसे कोई ऊंचा टीला हो कि न जिस का कुछ बनना-बिगड़ना है न भला-बुरा होना है। सर्दी, गरमी, बरसात सब ऊपर से निकल जाँय, कुछ भी पता न चले; आँधी-तूफ़ान हो, चाहे विद्रोह और विप्लव हो, चाहे किसी की उन्नति-अवनति हो, उस पर भला काहे को असर होगा।

निश्चय ही, मनोहरलाल 'टीला' हो गया है। सारे सुख-दुख, सब अभिलाषायें-इच्छायें उस की भस्मीभूत हैं। रात-दिन चारो ओर से, भयानक बर्बरता और भीषण अनुभूतियों ने मानो उस का सब 'बोध' नष्ट कर दिया है।

पहाड़ों के बीच, एक जगह कहीं, एक भट्टी सुलग रही थी। मनोहरलाल ने मानो उसी भट्टी में अपना दिल भून लिया।

उस के जीवन का प्रथम अध्याय अति संक्षिप्त है। वह कमल की पंखुड़ी पर लहलहाती एक ओस की बूँद-सा था, जो हवा के किसी झोंके से क्षण भर में लुढ़क कर जा गिरा और उस का अस्तित्व मिट गया।

उसी प्रथम अध्याय की बात कहता हूँ। किशोरावस्था समाप्त होने से पहिले ही मनोहरलाल पिता के साथ शहर चला आया था। पिता एक छोटे से स्कूल में मास्टर थे। स्कूल से सटे-सटे दो घर थे। एक में हेडमास्टर रहते, दूसरे में कोई किरायेदार। किरायेदार अकेले थे; बैठक बेकार पड़ी थी। मनोहरलाल के पिता को दे दी; भाड़े को मना कर दिया। उसी बैठक में एक ओर को दो ईंटें रख कर चौका कर लिया था और दोनों बाप-बेटे एक कोने में खाट डाल कर रात को सो रहते थे।

मनोहरलाल के माँ नहीं थी; कोई भाई-बहिन भी न था; स्नेह के सब बन्धन ढीले थे। पिता का वात्सल्य छोड़ कर कहीं से ममत्व की पुकार नहीं थी।

स्कूल ऊँची दीवारों से घिरा था। लड़कों की गुनगुनाहट और क़लमों की हलकी आवाज़ सारे दिन चारो ओर होती रहती। पिता अपनी कुरसी पर बैठे क्रमशः पाठ पढ़ाते रहते। मनोहरलाल सहपाठियों के बीच लिखता-पढ़ता। दूर, दरवाज़े की सीढ़ियों पर बैठा चपरासी दीवार से लगा ऊँघता रहता और दरवाज़े के पार लोग राह में चलते-फिरते। फिर शाम को छुट्टी होती। सहपाठी अपने-अपने घर चले जाते, उछलते-कूदते। चपरासी ताला डाल देता। स्कूल निस्तब्ध हो जाता। धीरे-धीरे सूरज डूबने लगता; राह सूनी हो उठती। आसमान से सन्नाटा उतरता।

पिता उस समय एक ट्यूशन पर पढ़ाने जाते थे। मनोहर-लाल और काम न पा कर उसी बैठक के आगे चौखट पर आ खड़ा होता। खड़ा-खड़ा देखता रहता कोई स्टेशन जाने वाला इक्का निकल गया सवारी लिये, कोई मज़दूर निकल गया बोझ लादे; कोई गाँववाला निकल गया लाठी कन्धे पर रक्खे।

बग़ल से महादेवजी की एक छोटी-सी मठिया थी; मठिया पर एक पीपल झुका खड़ा था। सारे दिन वह हिलता रहता। साँझ होती तो पत्ते थमते। फिर एक-एक करके पंछी उड़ते आते और डालों के बीच समा जाते। पीपल के ऊपर से सूरज की लाल किरन उतरती जाती। डालों के बीच से मीठी 'चूँ-चूँ' गूँजती।

मनोहरलाल खड़ा देखता रहता। एक पैर थक जाता तो दूसरे के सहारे खड़ा रहता। धीरे-धीरे पिता के लौटने की बेला आती। दूर से उन का काला कोट दीखता।

इसी तरह प्रतिदिन होता प्रतिदिन होता। जाने कितने दिनों तक इसी तरह होता रहा।

कि एक दिन अचानक, जब कि साँझ की उदासी घिर-घिर कर आ रही थी, हेडमास्टर के मकान की किवाड़ें सहसा खुलीं और एक सलोना-सा मुखड़ा दीखा। एक बार उस ने चारों ओर अपनी आकुल दृष्टि डाली फिर भाग कर वह मनोहरलाल के आगे आ खड़ी हुई और जाने कितनी कातर वाणी से कहा — "मुझे छिपा लो!" काँप रही थी थर-थर।

मनोहरलाल एक क्षण अवाक्‌ हो कर उस की करुण आँखें देखता रहा, फिर पलक मारते हाथ पकड़ कर भीतर कर लिया। किवाड़ें दे दीं उधर की और आप इधर दूसरे दर पर आ

खड़ा हुआ। सलोना-सा मुखड़ा अंधेरे कोने में छिप गया।

घड़ी पीछे हेडमास्टर निकले, छड़ी हाथ में उठाये। भवें ऊपर को चढ़ी थीं। दो डग मारे और फटाक् से मनोहरलाल के ऊपर आ झुके, पूछा "गंगा किधर गई, तुझे मालूम है ?"

मनोहरलाल ने एक बार डरते-डरते उन के रौद्र मुख की ओर देखा फिर धीरे से कह दिया—"नहीं।"

सामने, दूर तक सब सूना पड़ा था। हेडमास्टर ने इधर-उधर ताका और झट बैठक में घुस कर भड़ाक् से किवाड़ें खोल दीं।

सलोना-सा मुखड़ा, अंधेरे कोने में जो छिपा था, दीख गया। लपक कर बाँह पकड़ ली और खींच कर सामने किया और हाथ की छड़ी उठा कर सड़ाक् से पीठ पर मारी और मनोहरलाल की बैठक में करुणा-भरा चीत्कार गूँज उठा "हाय बाबूजी !"

छड़ी की आवाज़ हुई सड़ाक् !

"हाय बाबूजी !"

सड़ाक् !

"हाय बाबूजी !"

सड़ाक् सड़ाक् सड़ाक् !

"अरे मर गई, अरे मर गई रे ! अरे बचाओ, अरे कोई बचाओ !"

पलक मारते मनोहरलाल ने गंगा को अपनी बाँहों में कर लिया और हेडमास्टर से रो कर बोला "इसे छोड़ दो; मुझे मार लो इस के बदले।"

"हट, हट !"—हेडमास्टर ने कहा "अभी इस की अक़्ल

ठीक नहीं हुई है अभी ठीक नहीं हुई है !" कह कर फिर छड़ी मारी सड़ाक् सड़ाक् !

पर चीत्कार न हुआ। मनोहरलाल की बाँहों में दुरी, थर-थर होती गंगा 'हू-हू' कर रही थी। छड़ियाँ उस के न लग कर मनोहरलाल के लगी हैं जान कर हेडमास्टर रुक गये। छड़ी दूसरे हाथ में कर ली और तनिक शान्त हो कर कहा "चल भीतर !"

तब मनोहरलाल धीरे-धीरे सिसकती गंगा को अपने में छिपाये-छिपाये पहिली बार उस घर में घुसा जहाँ सामने तिदरी में हेडमास्टर की अलार्म घड़ी उलटी पड़ी थी ज़मीन पर और दूर तक शीशे के टुकड़े छितरे थे।

... ...

पहिले पिता न जानते थे, फिर धीरे-धीरे जान गये कि गंगा की मनोहरलाल से जान-पहिचान हो गई है। ख़ुश हुये देख कर।

जान-पहिचान बनी रही है और उस दिन की उन दो छड़ियों के लिये, उतने उस उपकार के लिये, अति सावधानी से याद रख कर गंगा ने इतने प्रतिदान दिये हैं कि उन की शुमार नहीं है।

फिर एकाएक मनोहरलाल बीमार पड़ा। तब गंगा ने सब सुध-बुध बिसार कर उस की सेवा-शुश्रूषा की; उसे उठा-उठा कर दवा पिलाई;उस के सिरहाने बैठ कर पंखा झला;उस की बेचैनी पर टुसुक-टुसुक कर रोई। भगवान् के आगे भीख माँगी उस की सेहत की।

और मनोहरलाल के सब स्नेह-बन्धन दृढ़ कर दिये।

जान-पहिचान वह बनी रही और समय का रथ, अपने पहियों को ध्वनि छिपाये, पृथ्वी और आकाश के बीच, हर रात को आगे बढ़ता गया और किसी को पता तक न चला।

कि हेडमास्टर साहब चल दिये वह स्कूल छोड़ कर। बिदा की बेला आ पहुँची।

तनिक सयानी हो गई थी। मुखड़े का सलोनापन और बढ़ गया था; लाज लगने लगी थी।

मनोहरलाल मन ने विथा छिपाये, अनमना हो कर बैठक में पड़ा था। गंगा का दिल नहीं माना। बाबूजी की नज़र बचा कर आ गई। इन्हें इस तरह पड़ा देखा तो जाने कितना दुख उमड़ आया। शरम छोड़ दी उस घड़ी; पास बैठ गई, हाथ पकड़ लिया और मनोहरलाल के मुख की तरफ़ देख-देख कर रोने लगी धीरे-धीरे। बड़ी-बड़ी कमल की पंखुड़ियों-सी आँखें पानी में डूब गईं, छोटे-छोटे लाल ओठ काँपने लगे। कुछ कहा ही न गया किसी से!

फिर बाबूजी ने आवाज़ दी तो उस का हाथ छोड़ कर उठ दी हौले से। रोती गई और अंचल से आँसू पोंछती गई।

... ..

मनोहरलाल वे सब बातें याद करके रोता। मानो किसी ने उसे सब से अलग करके बियाबान जंगल में छोड़ दिया हो। पिता को देखता तो चुप जाता. एकान्त पाता तो रोता। रोने से जी तनिक हलका हो जाता।

कई दिन तक यही हाल रहा। फिर क्रमशः दुख घटा। उदास रहने लगा। दिन भर तो स्कूल में बीत जाता पर शाम को ज्यों-ज्यों अंधेरा झुकता, मनोहरलाल की आकुलता जगती। उसी तरह उसी चौखट पर आ कर खड़ा रहता। और घंटों हेडमास्टर साहब के उस सूने दरवाज़े को आँखें फाड़-फाड़ कर निहारता रहता। लगता अब गंगा ने किवाड़ हटाई, किवाड़ों के बीच वह

प्यारा-प्यारा मुखड़ा चमका, छोटे-छोटे लाल ओठों पर मुसकान आई, सिर हिला कर इशारा करके धीरे से कहा- "आओ !" पर कहाँ ? सूरज डूबने लगता; राह सूनी हो उठती। आसमान से सन्नाटा उतरने लगता।

फिर एक दिन उस ने पिता से हेडमास्टर का पता पूछा। फिर छिपा कर एक चिट्ठी लिखी गंगा को। लिखा कि मुझे तुम्हारी रोज़ याद आती है। अब यहाँ कब आओगी ?

उस ने उधर से फ़ौरन जवाब लिखा कि मैं रोज़ तुम को याद करके रो लेती हूँ। मुझे भूल मत जाना और मेरे ऊपर कृपा रखना। बाबूजी अब वहाँ न जायेंगे; तुम आना मेरे पास।

फिर यह चिट्ठियों का सिलसिला न टूटा। पिता देखते तो हंस देते। चिट्ठियाँ आती-जाती रहीं। और हर चिट्ठी में वे ही दो बातें लौट-फेर कर लिखी जातीं कि मुझे बहुत याद आती है और यहाँ कब आना होगा।

अक्सर मनोहरलाल सपने देखता कि वह गंगा से बातचीत कर रहा है। फिर आँख खुल जाती तो चित्त अकुला उठता; नींद न आती फिर घंटों। उस की बातें सोचता रहता, चिट्ठियों के शब्द याद करता रहता।

परन्तु बीता हुआ आज कल को फिर से नहीं आ सकता। हर घड़ी में हर चीज़ बदल कर दूसरी हो जाती है। हम चाहे जान न पायें, पर हमारे आस-पास का सब और हम प्रतिदिन नये परिवर्तन में रँगते जाते हैं, पिछला रंग धुँधला हो कर उड़ता जाता है। और इसी रंग के हेर-फेर से हमारा हर्ष-विमर्ष, उन्नति-

अवनति और नया-पुराना सब बनता है। अन्यथा हम शायद 'कुछ नहीं' हैं और यह दुनिया भी कुछ नहीं है।

चिट्ठियाँ जो वहाँ से आती थीं—उन में देर होने लगी, फिर दो-तीन चिट्ठियों का जवाब एक चिट्ठी में आने लगा अति संक्षेप में और अति संयत भाषा में।

मनोहरलाल को बड़ी विथा व्यापी। यही 'विथा' की बात चिट्ठी में लिख कर भेजी कि क्या हो गया है तुम्हें गंगा कि अब उस तरह चिट्ठी क्यों नहीं डालती हो कि क्या ख़ता हो गई है हम से? और इस चिट्ठी को लिख कर वह ख़ूब फूट-फूट कर रोया।...

पर हाय, गंगा इतनी निर्दय हो गई। उस ने चिट्ठी का जवाब ही न दिया! सब विनती, मनोहरलाल की सब प्रार्थना उस के कानों के बाहर ही मँड़रा कर रह गई क्या?...

कई दिन पीछे पिता ने रात को पास लिटा कर कहा कि बेटा, अब गंगा को चिट्ठी न भेजना। हेडमास्टर ने हमें तुम्हारी शिकायत लिख कर भेजी है। क्या फ़ायदा चिट्ठी लिखने से! वह लड़की है; तुम अब इतने सयाने हुये। उस के पास तुम्हारी चिट्ठी जाना अब मुनासिब न रहा। लोग क्या कहेंगे?

... ...

प्रवाह रुक गया। फिर क्रमशः वह करुणा-स्रोत सूख कर मिट्टी की ढेरी रह गया। सालें दुनिया के ऊपर से उतराती निकल गईं। मनोहरलाल युवा हो गया।

जाने कितने दिन हो चुके। उस ने गंगा को नहीं देखा है। शायद बहुत सुन्दर हो गई होगी। शायद मनोहरलाल को भूल

गई होगी। शायद उसे याद हो! उस ने तो मना नहीं किया था, बाबूजी ने मना किया था।

वह जब किसी सुन्दरी किशोरी को देखता तो झट गंगा की याद आ जाती। सोचता -ऐसी ही हो गई होगी!

और तो कोई जगह न थी। मन उस का आश्रय ढूँढ़ता फिरता और लौट-पौट कर गंगा पर मँड़राता रहता। यों ही तरह-तरह की कल्पनायें करता और सुख पाता। ...

हाई-स्कूल में मनोहरलाल को 'पुअर-स्कालरशिप' मिलती थी। कुछ रुपये जमा कर लिये थे। बहुत दिनों से सोच रहा था। आख़िर जब छुट्टियाँ आईं तो वह पिता से झूठा बहाना करके गंगा से मिलने चल दिया।

दिल में 'धुकुर-पुकुर' मची थी। अनेक तरह के विचार मन में उठ रहे थे। ट्रेन में एक घड़ी को भी न सोया। यही सोचता रहा कि कैसे-कैसे क्या कहूँगा, कैसे मिलूँगा।

और अन्त में धड़कता हुआ कलेजा ले कर वह उस घर के दरवाज़े पर आ पहुंचा जहाँ वर्षों की कल्पना साक्षात् हो कर दीखने को थी।

. ..

हेडमास्टर साहब कहीं बाहर गये हुये थे। नौकर भीतर से ख़बर ले कर लौटा "आप बैठिये, बीबीजी अभी बाहर आ रही हैं।"

मनोहरलाल के भीतर मानो ज्वार-भाटा उठा था। वह उसे दबाने की चेष्टा करने लगा। कुरसियाँ पड़ी थीं; एक को आगे खींच कर वह बैठ लिया। हृदय का रक्त 'खट-खट' बज रहा था।

सूरज का गोला डूब गया था। आसमान में लाली रह गई थी और साँझ का झुटपुटा आ रहा था। मनोहरलाल के सामने पुरानी स्मृतियाँ नाचने लगीं। ऐसी ही एक संध्या को

सहसा आहट पा कर वह देखने लगा। भीतर के बरामदे से एक अति रूप-लावण्य-भरी, अल्हड़-सी नवयुवती, लाजभरी मुसकराहट ओठों में छिपाये, हलके क़दमों से उस की ओर चली आ रही है।

अरे, यही गंगा है!

पर तभी मनोहरलाल ने देखा उस सुन्दरी के बग़ल-बग़ल एक नवयुवक उस से बातें करता चला आ रहा है, हँसता-हँसता।

मनोहरलाल उठ कर खड़ा हो गया। वे लोग पास आये तो उस ने हाथ जोड़े। पर गंगा ने उसे देख कर कुछ न किया; वह सिर नीचा करके उस युवक की किसी बात पर मुसकराती आगे बढ़ गई। युवक के दोनों हाथ उस की पतलून में थे; सिर को तनिक-सा नमा कर उस 'नमस्ते' का उत्तर दे गया।

मनोहरलाल खड़ा देखता रहा।

गंगा बोली शरमाती-शरमाती "सुधा चल रही हैं न?"

युवक ने कहा "हाँ, लेकिन क्या तुम्हें अकेले मेरे साथ जाते डर लग रहा था?"

गंगा ने मुसकरा कर धीरे से कहा "नहीं।"

मनोहरलाल वहीं से खड़ा देखता रहा। वे लोग फाटक पार करके उस किनारे से खड़ी कार में जा बैठे और हार्न दे कर मोटर चली गई, पीछे धूल का ग़ुबार छोड़ती।

मनोहरलाल भिखारी की तरह जहाँ का तहाँ खड़ा था। घड़ी

पीछे नौकर भीतर से निकला तो पूछने लगा "भेंट हो गई ?"

कहा कि नहीं, भेंट नहीं हो सकी।

नौकर ने कहा "तो अब आप कल सवेरे आइये। अभी तो वे 'सिनेमा' देखने गई हैं।"

मनोहरलाल जैसे ख़ाली हो गया था। वह डग-मग होता चल दिया।

....

यह प्रथम अध्याय समाप्त हुआ।

कल्पना को नंगी लाश को ठोंकर मार कर मनोहरलाल आगे बढ़ गया।

हाई-स्कूल पास करके उस ने और आगे पढ़ने का विचार छोड़ दिया। ख़र्चे का कोई प्रबन्ध न था। पिता बुड्ढे हो गये थे, पर अभी तक स्कूल में पढ़ाते थे। देख कर मनोहरलाल अपने ऊपर ग्लानि करता। कई स्कीमें सोचीं, पर आमदनी किसी में न दीखी।

पिता के पुराने शिष्य राजाराम अब शहर में डाक्टर हो कर प्रेक्टिस कर रहे थे। उन्होंने राय दी कंपाउंडरी सीख लो; मैं सिखा दूँगा। दूकान पर काम करो।

सो कंपाउंडरी सीखने लगा। राजारामजी ने दया करके दस रुपये महीने बाँध दिये, हालाँकि वह समझता था कि उस को वे दस रुपये भी बिना योग्यता के मिल रहे हैं।

पर आठ-नौ महीने निकलते-निकलते ख़ूब प्रेक्टिस हो गई; हाथ तेज़ी से चलने लगा। डाक्टर राजाराम रोज़ पीठ ठोंकते—शाबाश!

फिर एक दिन कहा – "मनोहर, बोलो लखनऊ जाओगे ? एक जगह ख़ाली है कंपाउंडर की।"

मनोहरलाल चुप रहा।

डाक्टर बोले – "अजी, चले ही जाओ। यहाँ हम किसी और को रख लेंगे। हमारी तो ऐसी आमदनी ही नहीं है। वहाँ तुम्हें तीस-पैंतीस से कम न मिलेगा। समझे !"

ये लखनऊ वाले डाक्टर उन के कोई रिश्तेदार थे। अभी-अभी प्रेक्टिस शुरू की थी और बड़े भारी पैमाने पर 'डिस्पेंसरी' खोली थी। मनोहरलाल आ गया तो उस के बाद दो कंपाउंडर और आये। तीनों अपने-अपने कटघरे में खड़े हो कर मशीन की तरह काम करने लगे। तीनों को तीस-तीस रुपया महीना बँधा।

मनोहरलाल ने यहीं डिस्पेंसरी के पास एक छोटा-सा मकान किराये पर ले लिया था और होटल में खा आता। पिता अभी तक उसी पुराने शहर में थे; पर अब नौकरी छोड़ने का विचार कर चुके थे। मनोहरलाल के विवाह की फ़िक्र थी और कई जगह से पत्र-व्यवहार हो रहा था।...

...जाड़ों की रात थी। दो दिन मेंह बरस चुका था और अपनी याद की तरह दुखदाई ठंड छोड़ गया था। नम हवा सर्द पेड़ों से टकरा कर बर्फ़ की तरह हो गई थी और मानो ठंड से थर-थर काँपती घरों के भीतर घुसना चाहती थी जहाँ सब दुबके पड़े थे चुपचाप। ऐसी कड़ाके की सरदी थी।

मनोहरलाल ने दरवाज़े की किवाड़ें दे कर खिड़की खोल दी। बिजली की रोशनी गीली-भीगी सड़क पर पड़ रही थी। दस के क़रीब हो गया था और राह रुकने लगी थी।

सहसा तेज़ रोशनी चमका कर एक कार उस के घर के आगे आ खड़ी हुई। फिर ड्राइवर उतर कर दौड़ा आया और कहा कि साहब बुलाते हैं। डिस्पेन्सरी की चाबी ले कर आओ झट।

मनोहरलाल जल्दी से देही पर कम्बल लपेटे लपक कर आया और डिस्पेंसरी का फाटक खोल कर, लाइट् जला कर दरवाज़े पर खड़ा हो गया।

डाक्टर साहब कार से उतर कर आये। अति सुकुमारी, सलोनी पत्नी साथ थीं, शाल लपेटे।

भीतर घुसने लगे तो मनोहरलाल ने हाथ जोड़ कर नमस्ते की। डाक्टर साहब ने कहा 'नमस्ते'। पत्नी एक क़दम पीछे थीं। मनोहरलाल ने उन से भी हाथ जोड़ कर नमस्ते की। शरमाईं, कि जाने देखा ही नहीं, कुछ नहीं कहा, बढ़ गईं भीतर को।

मनोहरलाल वहीं दरवाज़े पर कम्बल लपेटे खड़ा रहा। जब वे लोग निकले तो उसी तरह ताला बन्द कर दिया। उस समय सुन पाया ; डाक्टर साहब अपनी युवती पत्नी से कह रहे थे "यह हमारा कंपाउंडर है; बहुत ही नेक और ईमानदार " और सड़क पर तेज़ रोशनी चमका कर कार उड़ती चली गई सन्नाटा तोड़ती।

मनोहरलाल फिर अपनी खिड़की पर आ बैठा। डाक्टर की पत्नी, यह गंगा ही थी न ? हाँ, आज इतने दिनों के बाद फिर उस ने गंगा को देखा है। पर जैसे अनन्त मरुभूमि के ऊपर से कोई पंछी उड़ता चला जाय और उस के पंखों की 'फट-फट' क्षण भर गूँज कर फिर ठोस चुप्पी छा जाय। कल्पना की नंगी लाश को ठोंकर मार कर मनोहरलाल आगे बढ़ गया।

दोनों साथियों में से विजयकुमार उस के निकट हो चला था। वह बहुत ही रसिक और भावुक था। भावुकता की बातें बहुत करता था। उसी ने एक दिन बतलाया कि डाक्टर साहब ने 'प्रेम-विवाह' किया है। लड़की उन पर फ़िदा थी और वे लड़की पर। दोनों के माँ-बाप राज़ी हो गये और जनाब शादी हो गई। यह एक 'लव कामेडी' है!

धीरे-धीरे पता चला कि उस से भी एक लड़की से 'लव' हो गया है। लेकिन इतने बन्धन और बाधायें हैं कि उन दोनों की शादी सरलता से न हो सकेगी; 'जाति' एक नहीं है।

फिर वह एक दिन ज़िद करके मनोहरलाल को अपनी 'प्रेमिका' दिखाने ले गया। वे लोग चौराहे के पास खड़े रहे। स्कूल की गाड़ी निकली तो उस में बैठी एक सुन्दर लड़की के दर्शन कराये।

सचमुच वह विजयकुमार से प्रेम करती है। तभी तो उसे खड़ा देख कर ओठों पर मुसकान खिल उठी फिर लजा कर पलकें गिरा लीं।

फिर विजयकुमार जब-जब उस लड़की के साथ साक्षात् करता, प्रेम की नशीली बातें होतीं, दूसरे दिन उसे सब आ कर सुना देता।

फिर एक दिन उस ने एक बहुत ही दुखदाई ख़बर सुनाई कि उस की प्रेमिका यहाँ से चली जा रही है। अब शायद आगे भेंट न होगी।

उस दिन से वह बहुत उदास रहने लगा। काम से जो फ़ुरसत मिलती, मरीज़ रुकते तो ठंडी साँसें खींचता; दोनों हाथों से माथा पकड़ कर बैठा रहता।

फिर एक दिन अचानक वह नौकरी छोड़ कर, लखनऊ छोड़ कर कहीं चला गया।

विजयकुमार की जगह एक दूसरा आदमी आ कर काम करने लगा।

इसी तरह दिन बीत रहे थे कि पिता की चिट्ठी आई मनोहर-लाल की शादी तय हो गई है। और फिर 'शुभलग्न' आने पर एक दिन उस की शादी हो भी गई चुपचाप।

. ..

शादी हो गई। गौना न हो सका। गौना जब होने को था, पिता की मृत्यु हो गई। फिर समाचार मिला कि पत्नी बीमार है। उस के दोनों घुटनों में दर्द होता है और इतना भयानक दर्द होता है कि रात और दिन चीख़ती-चिंघाड़ती है।

उन्नाव में जो डाक्टर थे वे जब ताक़त लगा कर थक गये और सुषमा के घुटनों का दर्द बन्द न हुआ तो फिर हार कर ससुर ने लड़की को दामाद के पास ही भेज दिया। वह इतने बड़े डाक्टर का कंपाउण्डर है; सब ठीक कर लेगा। ..

'सुहाग-रात' न हुई। लज्जा और संकोच से विजड़ित, उमंग और उत्कण्ठा से भरी वाणी सुनने को न मिली; न झीने अवगुण्ठन में झुकीं पलकें और माँग का लाल सिंदूर देखने को मिला, न चार लोचन उलझे, न तन-मन गुँथे, न जीवन की तरी प्यार के दरिया में धीरे-धीरे बही।

अपने बैठने का कमरा ख़ाली करके रुग्णा पत्नी की शैय्या लगा दी और तन-मन का सब ज़ोर लगा कर उसे 'स्वस्थ' करने की कोशिश करने लगा।

दिन के बाद रात और रात के बाद दिन सोते-जागते गये।

पत्नी को दवा पिला कर और घुटनों पर तेल की मालिश करके मनोहरलाल काम पर चला जाता। नौकरानी घर का काम-काज करती और सुषमा दवा लगाये अपने पलंग पर लेटी रहती, लेटी-लेटी रोती रहती। रोते-रोते थक जाती तो करवट बदल कर दीवार की ओर ताकती रहती। अनमने भाव से कुछ पढ़ती रहती।

मनोहरलाल सारे दिन डिस्पेंसरी में नुस्ख़ों पर झुका रहता; दवाइयाँ बनाता रहता; मरीज़ों की अजीबोग़रीब शकलें सामने आती-जातीं। और काम में डूबा-डूबा वह बीच में बार-बार याद कर लेता—घर में पलंग पर सुषमा चुपचाप अकेली लेटी है।

शाम को छुट्टी मिलती तो घर आ कर पत्नी की शैय्या के पास जा बैठता। उस समय रोग के सम्बन्ध में दो-एक बात होती फिर दोनों चुप हो कर सन्ध्या के उदास अँधेरे को देखते रहते।

मनोहरलाल ने इतने दिनों में कभी भी पत्नी के ओठों पर मुसकान खिली न देखी; न कभी उस के दुख-दर्द की चर्चा पत्नी ने उठाई; न कभी उस की सान्त्वना-भरी बातों से सुषमा का कष्ट घटा। शायद ही कभी आँखें आमने-सामने होती हों।

जब नौकरानी रसोईघर से ख़बर देती "बहूजी, खाना तैय्यार है।" तो सुषमा करवट ले कर धीरे से कह देती "जाइये, खाना खा लीजिये।"

अधिक बोलने से रोग शायद बढ़ता है, सुषमा का सिर दर्द करने लगता है। इसी लिये रात को जागता रह कर भी मनोहर-लाल बोल न पाता। थोड़े फ़ासले पर लेटा-लेटा, सुषमा के कराहने

की आवाज़ वह सुनता रहता और नक्षत्रों के बीच से चन्द्रमा आगे खिसक जाता।

इसी तरह जब यह जीवन का दूसरा अध्याय, अनन्त दूरी तक फैले समुद्र की तरह ओर-छोर हीन, दिन रातों के बीच डूबता-उतराता चला जा रहा था; डाक्टर साहब ने एक दिन सुषमा के घुटनों की परीक्षा करके कहा कि—बेकार हो गये ये तो!

हड्डियों की सन्धि के बीच जो 'तरल' पदार्थ था वह एकदम सूख गया। अब टाँगें सिमिट-सिकुड़ न सकेंगी। वह भयानक दर्द बिलकुल बन्द हो गया।

... ...

मनोहरलाल को अब पैंतालीस मिलने लगे थे; वह 'हेड' हो गया था। पर उसी की हालत सब से गई-बीती थी। बिलकुल फटे-हाल लगता था, न तन पर साबित कपड़ा दीखता, न चेहरे पर रौनक़। वह किसी से नाराज़ न होता; किसी से मिठास-भरी टोन से भी न बोलता। उस के चेहरे का भाव हमेशा एक-सा रहता।...

दो साल होने को आई। हर महीने सुषमा को इंजेक्शन दिया जाता है। इंजेक्शन की दवा उस के लिये अमेरिका से आती है। एक ख़ास तौर की चरबी उस के लिये मँगानी पड़ती है। और अनेक बलकारक औषधियाँ सेवन कराई जाती हैं। ताज़े फल और हरी मेवा दी जाती है खाने को। दूध के लिये घर में गाय पाली है।

घुटने सीधे-सतर रह गये। इस के बाद कमर में दर्द बढ़ने लगा, जैसे पहिले घुटनों में उठा करता था।

डाक्टर साहब अनेक विवेचन करके, बुद्धि लगा कर मनोहरलाल की पत्नी के इस भीषण रोग की रोक-थाम करते रहे हैं। इसी लिये हर मास में क़ीमती से क़ीमती इंजेक्शन लगाते हैं कि रोग न बढ़े।

लेकिन भगवान् जाने, कैसा विचित्र रोग है कि बस उन्नीस होता है और बीस हो जाता है।

यत्न करके डाक्टर साहब उस दर्द को जारी रख कर चिकित्सा

कस्ते रहे। पर दुःख है कि पिछले महीने से अब वह दर्द धीरे-धीरे घटने लगा है। रात को सुषमा गहिरी नींद में सो जाती है। दर्द रुकने लगा है। शायद कमर की ये हड्डियाँ भी सूख गईं।

पैर तो यों भी बेकार हो गये हैं। पर डाक्टर साहब का यही कहना है कि—इस के बाद मनोहरलाल की पत्नी के हाथों की हड्डियाँ भी सूख जायेंगी!

इसी लिये शायद मनोहरलाल हर साँझ को लौट कर अपने सटे हुये सूखे ओठों को बरबस खोल कर सुषमा से पूछ लेता है—"हाथों में तो दर्द नहीं होता है?"

सुषमा इस प्रश्न का अर्थ समझती है वह धीरे से "नहीं" कह कर आकाश की ओर देखने लगती है।...

...सामने आलमारी में एक अलार्म घड़ी रक्खी रहती थी। टनन्-टनन करके उस की घंटी बजती। नौकरानी की लड़की को बड़ी प्रिय लगती वह टनन्-टनन्। एक दिन मौक़ा पा कर चुपके से उठाने लगी देखने को। छोटे-छोटे हाथ थे; घड़ी हाथ से सरक गई। और शीशा टूट कर चूर-चूर हो गया। माँ मारने दौड़ी तो वह डर कर रोने लगी। मनोहरलाल ने फ़ौरन नौकरानी को रोक दिया। फिर वह टूटी हुई घड़ी उठाने लगा।

...यह क्या उस 'चिता' की भस्म है जो जल कर ठंडी हो गई है?...

खाना खा कर वह डिस्पेंसरी आया तो रोगी बैठे थे। डाक्टर साहब अभी तक न आये थे। मनोहरलाल ने 'लिस्ट' की धूल झाड़ी हाथ से. फिर वह अपने सहकारी से हँस कर कहने लगा—"आज नौकरानी की लड़की ने हमारी घड़ी तोड़ दी।"

सहकारी से उस ने आज तक यों बेसिलसिले बात न की थी; हँसा भी न था उस से बात करते।

पूछा—"कैसे?" तो हँस कर उसी तरह कह दिया—"गिरा दी आलमारी से।"

सहकारी समझ न सका कि अब क्या कहे।

मनोहरलाल शीशियों को आलमारी में से उठाता-उठाता बोला—"बच्चे को ऐसी खता पर मारना नहीं चाहिये।"

कि डाक्टर साहब आ गये। और हाथों की मशीनें चलने लगीं—खट्-खट्।

उस दिन वह बहुत ही प्रौढ़ और थका-सा दीख रहा था। डाक्टर साहब ने किसी काम से बुलाया तो ऐसा मुरझाया, सूखा चेहरा देख कर चौंके, कहा—"क्यों, तबियत कैसी है तुम्हारी?"

"जी, ठीक है।"—मनोहरलाल बोला।

डाक्टर ने आशंका करके कहा—"तुम्हारी पत्नी का क्या हाल है?"

"जी, ठीक है।"...

शाम को डाक्टर साहब उठे तो फिर मनोहरलाल को बुलवाया; बोले—"कोई काम तो नहीं है तुम्हें अभी?"

"जी, नहीं।"

"अच्छा तो साइकिल ले कर चले जाओ। दो सीटें 'रिज़र्व' करा रखना 'बाक्स' में। हम अभी खाना खा कर आते हैं। यह लो नोट।"...

मनोहरलाल साइकिल उठा कर सिनेमा-हाऊस चला आया। बहुत 'रश' था। मैनेजर से जा कर कह दिया कि, डाक्टर साहब आ रहे हैं; बाक्स में दो सीटें खाली रखिये।

फिर अपना उस शोर-गुल और भीड़ से अलग एक किनारे से साइकिल रख कर खड़ा रहा।

ठीक टाइम पर डाक्टर साहब की कार आ पहुँची और मनोहरलाल बढ़ कर आगे आया। डाक्टर साहब उतरे, पीछे से गंगा उतरी, मुसकराती। उस के मुख पर जाने कितनी चमक थी। कानों के ईयरिङ्ग झिलमिला रहे थे।

आज मनोहरलाल ने 'नमस्ते' न किया। यों ही खड़ा रहा निश्चल-निस्पन्द।

साहब ने पूछा—"हो गया ठीक ?"

"जी।"

गंगा मनोहरलाल की तरफ़ देखने लगी। फिर जाने क्या 'पति' से कह दिया धीरे से।

साहब बोले—"कोई काम तो नहीं है तुम्हें ?"

"जी, नहीं।"

साहब ने अपना 'पर्स' खोला और एक रुपिया निकाल कर बोले—"लो, तुम भी टिकिट ले लो।"

मनोहरलाल ने हाथ बढ़ा कर रुपिया ले लिया। साहब अपनी पत्नी के साथ ऊपर सीढ़ियों पर चढ़ने लगे।

एक भिखारिन गोद में साल भर का बच्चा लिये भीख माँग रही थी। मनोहरलाल के आगे आ कर गिड़गिड़ा कर बोली—"ऐ बाबू !"

मनोहरलाल ने एक बार उस के मुँह की ओर देखा और हाथ बढ़ा कर वह रुपिया उस की झोली में डाल दिया।

साइकिल उठाई और घर की राह ले ली।

... ...

अर्ध-विक्षिप्त की तरह मनोहरलाल घर में घुसा। नौकरानी लालटेन जला कर मालकिन के पास रखने आई थी। हौले से बोली—"बहूजी, छुट्टी मिल जाय; रमिया को अकेला छोड़ आई हूँ।"

बहूजी ने धीरे से कहा—"जाओ।" नौकरानी खाना ढँक कर चली गई। मनोहरलाल उस टूटी घड़ी के पास भीतर आ खड़ा हुआ और जाने क्या उस में देखता रहा।

दिन में गरमी बहुत रही थी। पच्छिम में काली-काली घटायें उठती दीख रही थीं अभी। पर थोड़ी ही देर बाद दरवाज़े और खिड़कियाँ खटर-खटर बजने लगीं। आँधी आ गई।

मनोहरलाल की समाधि टूटी। लालटेन ले कर सब ओर की किवाड़ें बन्द करता फिरा, फिर बरामदे के आगे का परदा भी खोल कर गिरा दिया।

सुषमा बेजान मूर्त्ति-सी उतनी देर अँधेरे में पड़ी रही। मनोहर-लाल ने लौट आ कर लालटेन पास रख दी। और चुपचाप खड़ा हो गया एक ओर।

सुषमा शायद ही कभी इस तरह पुकारती थी। आज उसे जाने क्या हो गया। काँपती-सी ज़ुबान से कहा—"बैठ जाइये।"

हू-हू करती हवा दरवाज़े पर धक्का मार कर लौट गई।

मनोहरलाल सामने लोहे की कुरसी पर बैठ गया।

तब वह करवट ले कर पूछने लगी—"आप के दवाख़ाने में ज़हर है?"—उस की ज़ुबान काँप रही थी।

मनोहरलाल ने कहा—"हाँ।"

सुषमा उसी काँपती ज़ुबान से बोली—"तो मेरे लिये ला दो। आप के पैरों पड़ूँ अब 'ज़हर' ला दो; अब और कब तक मौत का इन्तज़ार करूँ!" कह कर वह रो उठी।

हू-हू करती हवा दरवाज़े पर धक्का मार कर लौट गई।

मनोहरलाल चुप रहा। सुषमा का गला आँसुओं से रुँधा था। आँसू बहाती कहने लगी दर्द-भरी टोन से—"मैं 'पाप' का रूप धर कर आई हूँ। मैंने आप को बहुत कष्ट दे लिये हैं। अब मुझ से सहा नहीं जाता। आप—आप को—"आगे वह कह ही न सकी।

मनोहरलाल ने शान्तभाव से कहा—"तुम्हारे लिये ज़हर दे कर मार डालूँ। इस के बाद? मेरे लिये फिर जीवन का क्या आश्रय रह जायगा? मैं फिर किस काम के लिये ज़िन्दा रहूँगा?"

हू-हू करती हवा दरवाज़े पर धक्का मार कर लौट गई।

सुषमा की आँखों से आँसुओं की धार बँधी थी। सूखे हुये दोनों पैर थर-थर काँपने लगे।

मनोहरलाल जैसे भाव में डूब गया। वह पास आ कर अपनी धोती से उस के आँसू पोंछने लगा।

सुषमा जाने कितनी कातर हो गई थी। कम्पित अधरों से कहा—"पापिनी को क्यों छू रहे हो!"

मनोहरलाल वहीं उस के पास बैठ गया। सुषमा सिसकी लें कर बोली—"इतने दिनों से छिपाये थी; अब आज सब कहूँगी। तब आप जान पायेंगे कि मैं कितनी 'पिशाचिनी' हूँ!" रुक-रुक कर कहा—"शादी से पहिले; इसी डिस्पेंसरी में काम करते थे; एक कम्पाउंडर—"

मनोहरलाल ने झट सुषमा को कहने से रोक दिया और जल्दी से बोला—"वह सब मत कहो—वह सब मत कहो। मैं जानता हूँ।"

"आप जानते हैं!"—सुषमा पागलों की तरह चिल्ला कर बोली—"आप सब जानते हैं!"

हू-हू करती हवा दरवाज़े पर धक्का मार कर लौट गई।

मनोहरलाल ने सुषमा के सिर पर हाथ रख कर कहा—"शान्त रहो।"

पर अब बाँध टूट गया। फूट-फूट कर रोने लगी और हाथों का बल लगा कर बार-बार उठने लगी।

मनोहरलाल ने रोक कर कहा—"लेटी रहो सुषमा!"

पहिली बार यह शब्द सुना। जैसे सब सामर्थ्य जाती रही। पलंग की पाटी पर सिर पटक कर आँसू बहाते कहा—"पापिनी के माथे पर अपने चरणों की धूल लगा दो देवता!"

मनोहरलाल की आँखें सजल हो गईं। भरे गले से बोला—"ऐसे मत कहो!"

हू-हू करती हवा दरवाज़े पर धक्का मार कर लौट गई।

———

हृदय का घाव

"इस जगह,"—पीले चेहरेवाले युवक ने छाती पर बायीं ओर हाथ रख कर कहा—"इस जगह पर दर्द होता रहता है, डाक्टर साहब !"

"तो ठीक है," डाक्टर ने घुटने हिला कर कहा—"आप 'एक्स रे' कराइये।"

"एक्स रे से पता चल जायेगा ?"

"ज़रूर-ज़रूर; एक्स रे तो होता ही इसी लिये है। आप के सीने में दर्द होता है न ?"

"जी।"

"आप ने कहा कि—एक बार .खून भी आ चुका है मुँह से।"

"जी हाँ।"

"तो एक्स रे आप करा लीजिये।"

"कब हो सकेगा ?"

"चाहे जब; आप चाहें तो अभी हो सकता है। परसों आप को फ़ोटो मिल जायगा; फ़ीस सोलह रुपया है। यह 'लिस्ट' देखिये।"

पीले चेहरेवाले युवक ने लिस्ट उलट-पलट कर, सोच कर पूछा—"आज हो सकेगा ?"

"क्यों नहीं," डाक्टर ने कहा—"इसी वक्त हो सकता है।"

"लेकिन मैं तो रुपया ले कर नहीं आया हूँ।"

"ओ, कोई बात नहीं है; आप मेरे नौकर को साथ लेते जाइये, वह ले आयेगा।"

"तो—"

"हाँ, आप बैठिये; मैं सब 'फ़िट' करके आप को बुला लूँगा।"

डाक्टर का 'एक्स रे-रूम' बँगले की पच्छिमी ओर है। उधर से उस की शीशे की किवाड़ें और पीतल के हेण्डिल चम-चम करके चमकते हैं। दूसरा दरवाज़ा भीतर के हॉल में से आता है।

थोड़ी देर पीछे डाक्टर ने एक्स रे-रूम की आधी किवाड़ खोल कर कहा—"हाँ, आइये।"

पीले चेहरेवाला युवक भीतर आ खड़ा हुआ।

"देखिये, कपड़े उतार दीजिये इस खूँटी पर और इस कुरसी पर बैठिये।"

पीले चेहरेवाले युवक ने वैसा ही किया; कपड़े उतार दिये और सूखी छाती खोल कर कुरसी पर आ बैठा।

"ज़रा इधर को—" डाक्टर ने तनिक-सा उसे तिरछा करके कहा—"हाँ, अब ठीक है।"

और आलमारी से एक पट्टी निकाल कर उस की आँखों पर बाँध दी। ख़ुद चश्मा चढ़ाया और कहा—"देखिये, इसी तरह बैठे रहिये।"

सामने दीवाल पर बिजली का 'स्विच' था; डाक्टर ने 'खट' करके अँगुली से उसे दबा दिया। आवाज़ हुई—'घर्र-घर्र-घर्र' और एक बहुत तेज़ नीली-सी प्रकाश-किरण पीले चेहरेवाले युवक की सूखी छाती पर आ पड़ी।

सब दीख रहा है—हड्डियों के भीतर का सब फेफड़ा, हृदय!

पीले चेहरेवाला युवक आँखों पर पट्टी लगाये, चुप स्थिर बैठा था। डाक्टर ने दूसरी ओर बढ़ कर कैमरे का 'प्लेट' खोल दिया। छाती की तसवीर उस में उतर गई।...

नीरजा, डाक्टर की पुत्री, अपने छोटे-से कमरे में कुरसी पर धोक दिये निस्तब्ध भाव से बैठी थी। एक हाथ कुरसी के डंडे पर था और

दूसरे में किसी मासिक पत्रिका का बीच से खुला पृष्ठ दीख रहा था। भावहीन शून्य दृष्टि से बाहर की ओर निहार रही थी, तारे अचल थे, पलक मारना मानो भूल गई थी।

डाक्टर की पुकार पर वह हॉल के रास्ते यहाँ एक्स रे-रूम में चली आई; पत्रिका का खुला पृष्ठ उसी तरह हाथ में लगा था।

डाक्टर ने कहा—"प्लेट लिया है एक, इसे धो कर देखोगी ?"

नीरजा ने स्वीकृति में सिर हिलाया। उसे फ़ोटोग्राफ़ी का बहुत शौक़ है। इसी लिये पिता कोई एक्स रे करते समय उसे ज़रूर बुला लेते हैं और प्लेट भी प्रायः वही धोती है।

लेकिन नीरजा की शकल—नीरजा का रूप-रंग और साधारण लड़कियों जैसा नहीं है; वह मानो स्वर्ग से किसी प्रकार इस धरातल पर उतर आई है; वह किसी देव-गन्धर्व की कन्या है; वह अलौकिक छवि लिये है। उस छवि का वर्णन नहीं हो सकता। वर्णन होने पर पाठक विश्वास नहीं करेंगे—उसे 'कविता' कहेंगे।

गुलाब के फूल-सी जिस की सब देह है, जिस की वाणी में बाँसुरी का सुर है, कविता की तरह जिस की दृष्टि है—उस का कौन वर्णन करेगा ?

जिस प्रकार लिख कर नहीं बताया जा रहा है, जिन लोगों ने कभी सौभाग्य से नीरजा को एक नज़र देख पाया है वे किसी से कह कर बता नहीं सकते। वह जैसे वर्णन के परे है। नीरजा ने एक बार उस की ओर निहारा फिर वह झुक कर यन्त्र देखने लगी। डाक्टर ने चश्मा उतारते-उतारते कहा—"कोई गड़बड़ नहीं हुई; ठीक आया है।"

पीले चेहरेवाला युवक तब से उस 'रूप के आलोक' पर दृष्टि जमाये था। वह शायद नीरजा को देख कर अपना और विश्व का सब भाव भूल गया था; स्तब्ध हो गया था।

डाक्टर शायद लक्षित नहीं कर पाये। आलमारी की ओर मुँह फिरा कर कहा—"अब आप जा सकते हैं।"

× × × ×

उस की छाती में, भीतर 'घाव' हुआ है। तसवीर में घाव की जगह स्पष्ट अंकित हुई है। अब क्या किया जाय ?

डाक्टर साहब ने कहा—"इलाज करवाओ; अभी कोई वैसी हालत नहीं है; ठीक हो जायेगा।"

रोगी ने कहा—"आप—?"

डाक्टर साहब बोले—"मैंने आज-कल इलाज करना छोड़ दिया है। आप डाक्टर माथुर के पास जाइये; वे इस रोग के विशेषज्ञ हैं। मैं उन्हें एक चिट्ठी लिखे देता हूँ।"...

शायद डाक्टर माथुर के यहाँ छाती के घाव का इलाज शुरू हो गया।...

यह छाती में भीतर घाव क्यों हो गया ? उस दिन तसवीर में देर तक सूखी छाती के बीच काले दाग पर अपनी पुतली रोक कर नीरजा पिता से पूछने लगी—"कैसे यहाँ घाव हो जाता है ?"

पिता ने कहा—"अनेक कारण हैं इस के। बहुत भाग-दौड़ करने पर, बहुत असंयत जीवन बिताने पर, या बहुत ज्यादा चिन्तित रहने पर यहाँ भीतर हृदय में घाव हो जाता है। बुरा रोग है।"

नीरजा चुप हो गई। बहुत भाग-दौड़; असंयत जीवन; बहुत दुश्चिन्ता;—नीरजा यह सब नहीं जानती। भाग-दौड़, असंयम और दुश्चिन्ता जाने लोग क्यों करते हैं ! यह सब करने पर छाती में भीतर घाव हो जाता है, बुरा रोग है, शायद मृत्यु हो जाती है। तब उस आदमी की भी मृत्यु हो जायेगी !

नीरजा के हृदय में किसी दुश्चिन्ता से घाव नहीं हुआ है; पर हृदय चिन्तनशील है। बहुत छोटी अवस्था में वह कवितायें पढ़ कर उन्हें याद कर लेती थी, फिर किसी सुकुमार वन-लता की तरह हौले-हौले झूम कर कहीं अकेली किसी झरोखे में बैठ कर उन्हें गाती थी। तब से जाने कितनी असंख्य कवितायें उस के हृदय में एकत्रित हो गई हैं। अब उन्हें बाहर आकाश के बीच वह नहीं जाने देती, झरोखे में बैठ कर झूम-झूम कर नहीं गाती। कवितायें अब यहाँ—उस के हृदय

में आ कर, मानो नदी किनारे की किसी शिला पर बैठ कर, स्वयं ही गाती हैं; उन के आलाप सुन कर प्राण झूमते हैं। नीरजा मानो सिहिर कर सब देखती है।

हृदय चिन्तनशील है; वह 'कवि' हो गया है। नीरजा के भीतर कविता की रचना होती है। पर उस कविता में शायद शब्द नहीं हैं, शब्दों में शायद ध्वनि नहीं है। सब एक 'गुंजन' है। नीरजा सुनती रहती है। यह अव्यक्त, शब्द-स्वरहीन कविता किस के लिये दिन-रात बन रही है? नीरजा नहीं जानती।

रात को पलङ्ग पर अकेली लेटी नीरजा अपना घर-द्वार छोड़ कर जाने कहाँ-कहाँ भागती फिरी है; कभी किसी छोटी पहाड़ी पर चढ़ कर सन्ध्या देखी है, कभी झरने में दोनों पाँव डाल कर पास के वृक्ष की कोयल को 'कू-कू' करके चिढ़ाया है, कभी धान के खेतों में दौड़ती फिरी है...

वेणु जो बज रही थी, अचानक चुप हो गई। हृदय चिन्तनशील है; वह 'कवि' हो गया है। उदास हो कर बोला—'वह युवक—!'

नीरजा आँखें बन्द किये पड़ी थी। चौंक कर पलक खोल दिये। खिड़की के उस पार मौलसिरी के पेड़ से चन्द्रमा आधा दीख रहा था, हवा मानो नशे में डोल रही थी। चारो ओर शान्ति छाई थी। पर इस वातावरण में मानो किसी ओर से एक दुःख आ कर छिप गया है, इस निस्तब्धता में क्या किसी की मृत्यु की छाया है?

छाती में भीतर घाव हो जाने से शायद मृत्यु हो जाती है; उस आदमी की भी मृत्यु हो जायेगी!

हवा के झोंके से नीरजा के बालों की लट उड़ कर मुख पर आ गिरी, अंचल फरफरा उठा।

× × × ×

पीले चेहरेवाला युवक सन्तोष प्रकट करता हुआ बोला—"जी हाँ, पचहत्तर प्रतिशत उन की दवा गुणकारी सिद्ध हुई है; वाक़ई डाक्टर माथुर इस रोग के विशेषज्ञ हैं।"

डाक्टर साहब को बड़ी ख़ुशी हुई, पूछा—"तो आप को फ़ायदा हो रहा है ?"

"जी हाँ।"

"दर्द—?"

"जी, बहुत मामूली; कभी-कभी थोड़ा-सा महसूस होता है।"

"बड़ी ख़ुशी की बात है। अब आप जल्दी ही चंगे हो जायेंगे; ज़रा परहेज़ का ख़्याल रखिये।"

"जी हाँ," पीले चेहरेवाले युवक ने मानो व्यग्र हो कर कहा—"आप को इस समय फ़ुरसत है ?"

"हाँ-हाँ, कहिये !"

पीले चेहरेवाले युवक ने कहा—"एक्स रे—"

"एक्स रे करवाइयेगा ?"

"जी, देखना चाहता हूँ कि—"

"बेशक-बेशक—" डाक्टर ने उठते-उठते कहा—"मैं अभी फ़िट करके आप को बुला लूँगा।"

विद्यालय की छुट्टी थी। नीरजा आँगन में खड़ी कुत्ते से खिलवाड़ कर रही थी। देख पा कर पिता ने कहा—"यहाँ आओ।"

नीरजा कुत्ते को छोड़ कर उधर से आ गई। डाक्टर साहब ने नीरजा को चश्मा दे कर कहा—"लो, आज तुम्हीं प्लेट लो।"

फिर आधी किवाड़ खोल कर पुकार कर कहा—"आइये !"

नीरजा चश्मा लिये खड़ी थी। आँखों के आगे उसे देख कर वह एक बार चौंकी, फिर जैसे स्थिर हो गई।

युवक ने दृष्टि उठा कर उस की ओर नहीं देखा। वह खड़ा-खड़ा पूछने लगा—"कपड़े उतारूँ ?"

"हाँ-हाँ; यह कुरसी लीजिये।"

छाती खोल कर पीले चेहरेवाला युवक नङ्गा हो कर बैठ गया। डाक्टर ने उस की आँखों पर पट्टी चढ़ा दी। नीरजा ने चश्मा लगा कर स्विच दबाया, 'घर्र-घर्र-घर्र' हुई और प्लेट उतर गया।

फिर कपड़े पहिन कर युवक उन के पास आ खड़ा हुआ और यन्त्र के विषय में पूछ-ताछ करने लगा। डाक्टर उसे समझाने लगे। नीरजा खड़ी रही।

अन्त में वह नमस्ते करके जाने लगा तो नीरजा पर दृष्टि फेंकी। यह कैसी दृष्टि है!···

दूसरे दिन तसवीर छाप ले कर डाक्टर कुरसी पर बैठे उसे देख रहे थे। नीरजा जाने किस काम से उधर से निकली। पिता ने पुकार कर कहा—"लो देखो!"

नीरजा तसवीर ले कर खड़ी रही। पिता ने चश्मा ठीक करते-करते कहा—"घाव तो कुछ कम हुआ नहीं, बल्कि कुछ बढ़ा ही लगता है!"

नीरजा चुप रही।

पिता ने कहा—"और वह कहता था कि हालत ठीक हो रही है, दर्द भी नहीं होता!"

नीरजा चुप रही।

डाक्टर ने कहा—"इसे तुम अपने पास रख लो। मैं तो आज शाम को लखनऊ जा रहा हूँ। कल शायद वह इसे लेने आये। फ़ीस भी लायेगा। दे देना तुम।"

नीरजा तसवीर लिये चली गई।...

रात भर वह तसवीर नीरजा की टेबिल पर धरी रही। दस बार उस पर नीरजा की नज़र गई। अंजर-पंजर छाती के बीच घाव का काला दाग़! पिता कहते थे—पहिले से कुछ बढ़ गया है। अच्छा, इस हृदय-रोगी के लिये नीरजा को इतनी चिन्ता और इतना भय क्यों लग रहा है? इस तरह के अनेक रोगी यहाँ आये हैं, अनेक प्लेट नीरजा ने धोये हैं। कभी भी वह कुछ नहीं जान पाई है।

हृदय चिन्तनशील है; वह 'कवि' हो गया है। एक दुखभरी साँस ले कर हृदय कहने लगा—"यदि उस आदमी की मौत हो गई!"

मौत! हाँ, शायद उस की मौत हो जायेगी।...उस की बूढ़ी माँ

है। वही अकेला बेटा है। अभी दो-एक साल पहिले उस की शादी हुई है। नौकरी करता है। किराये के मकान में वे लोग रहते हैं।...

...छाती का घाव बढ़ता गया—बढ़ता गया। एक दिन शाम के झुटपुटे में, सूरज डूबने के बाद, दिया जलने से पहिले, उस की मौत हो गई !...

...माँ ने सिर फोड़ लिया...विधवा बहू घूँघट काढ़े पति की लाश के ऊपर लोट रही है !...

नीरजा ने जल्दी से तसवीर उलटी करके रख दी; फिर मन ही मन बोली—वह कहता था कि—हालत ठीक हो रही है, दर्द भी नहीं होता अब। परमात्मा उस बेचारे पर कृपा करें। शायद उस के बाप नहीं हैं, छोटा-बड़ा भाई भी नहीं है। शायद अभी शादी हुई है।... छाती का घाव बढ़ता गया—बढ़ता गया। एक दिन शाम के झुटपुटे में, सूरज डूबने के बाद, दिया जलने से पहिले, उस की मौत हो गई ! माँ ने सिर फोड़ लिया। विधवा बहू घूँघट काढ़े पति की लाश के ऊपर लोट रही है !...

नीरजा ने काँप कर सिर हिला कर कहा—"ना-ना, वह अच्छा हो जायेगा, उस की हालत ठीक हो रही है, अब उस की छाती में दर्द नहीं होता है।"

रात भर वह तसवीर नीरजा की टेबिल पर धरी रही।

सुबह नौकर ने आ कर खबर दी कि—वे उस दिन वाले बाबू आये हैं।

नीरजा तसवीर ले कर बाहरवाले कमरे में चली। तसवीर को और नहीं देखा। चुपचाप आ कर पिता की बड़ी टेबिल पर उस पीले चेहरेवाले युवक के पास रख दिया।

ठीक उसी तरह उस ने भी जेब से सोलह रुपये निकाल कर बिना गिने उसी टेबिल पर रख दिये। फिर हौले से तसवीर अपनी ओर खींच कर बिना उसे देखे ले कर चल दिया। दरवाजे की सीढ़ियों से उतरने लगा तो एक बार नीरजा पर दृष्टि फेंकी। यह कैसी दृष्टि है !

घड़ी भर नीरजा स्तब्ध खड़ी रही, फिर धीरे से वह रुपयों की गड्डी उठाई। अपनी कोमल मुट्ठी में उन्हें दाब कर भीतर चली। अरे, ये रुपये इतने गरम हैं! स्पन्दन और सूखे रक्त से, अंजर-पंजर छाती से सटे रह कर ये चाँदी के बोझीले टुकड़े गरम हो गये हैं—इन में छाती की जलन आ गई है! यह जलन शायद बहुत देर तक, दिनों तक यों ही रहेगी। जब वह हृदय-रोगी मर जायेगा, छाती ठंडी हो उठेगी, उसी क्षण शायद ये रुपये शीतल हो जायेंगे। अभी इन में छाती की जलन है!—नीरजा ने दौड़ते आ कर 'खन्न' करके सब रुपये आलमारी के बीच छोड़ दिये।

× × × ×

जिस तरह नीरजा पढ़ने में आगे है उसी तरह विद्यालय भर में नीरजा सब से अधिक सुन्दरी है। शायद नगर भर में वह सब से अधिक सुन्दरी है। उस के चेहरे को कोई बहुत देर तक एक-टक हो कर नहीं देख सकता; आँखें चौंधिया जाती हैं। नाम से नहीं, रूप से उसे अनेक स्त्री-पुरुष पहिचानते हैं। पर नीरजा के निकट जैसे इस अमानवीय 'रूपश्री' के लिये तनिक भी गुमान नहीं है; उल्टी वह चारो ओर से अपने सौंदर्य की प्रशंसा सुन कर व्याकुल-सी हो उठती है कि वह सर्वसाधारण की तरह क्यों न हुई!

माँ नहीं हैं। पिता ने ही नीरजा की पालना की है। अब सुपात्र को खोज कर नीरजा को इस घर से बिदा कर देना पड़ेगा। अनेक सखियाँ कहती हैं—नीरजा जिस दिन चली जायेगी उसी दिन हम भी विद्यालय आना बन्द कर देंगे। कहती हैं—हाय नीरजा, शादी हो जाने पर तुम यह शहर छोड़ कर कहाँ चली जाओगी! कैसे फिर भेंट होगी—नीरजा, तुम्हारे बिना फिर कैसे रहा जायेगा, प्राण निकल जायेंगे सखी! कहती हैं—हमें भी अपने साथ लिये चलो, अपनी दासी बना लेना!

नीरजा कभी कुछ नहीं कहती, केवल चुप रह कर डबडबाई आँखों से कभी सहेलियों के मुख की ओर निहार कर सिर झुका

लेती है। मानो अभी हाल कोई उसे ज़बरदस्ती उन सब सखियों से अलग करके हज़ारों कोस दूर ले जायेगा!...

अब यौवन के किनारे नीरजा आ खड़ी हुई है। इसी से सारी चंचलता कहीं छिप गई है; पर सभी जानते हैं कि उस के हृदय में यौवन की उन्मादना तनिक भी नहीं है। लेकिन 'सुपात्र' कहाँ मिले?

नीरजा तो साधारण लड़की नहीं; वह मानो स्वर्ग से किसी प्रकार इस धरातल पर उतर आई है; वह किसी देव-गन्धर्व की कन्या है। गुलाब के फूल सी उस की सब देह है, उस की वाणी में बाँसुरी का सुर है, कविता की तरह उस की दृष्टि है। रूप से बढ़ कर उस में गुण हैं, गुणों से बढ़ कर उस का रूप है। उस के लिये 'सुपात्र' मिलना सहज नहीं। पिता दिन रात चिन्तित रहते हैं। क्या किसी साधारण लड़के से नीरजा की जीवन-डोरी बाँधी जा सकती है? पिता बड़े डाक्टर हैं। उन्होंने बहुत धन एकत्र किया है; सब नीरजा के लिये। जिन का इलाज किया है, जिन का एक्स रे किया है, उन में से अनेक अच्छे हो गये हैं, अनेक मर गये हैं। उन सब की परिगणना कौन करे। उन सब से उपार्जित धन ही परिगणनीय है। डाक्टर अकेले हैं, उन्हें बहुत धन नहीं चाहिये। धन जो है वह नीरजा के लिये है। धन से नीरजा को सुख मिलेगा; नीरजा के सुख से डाक्टर सुखी होंगे। और सब कल्पना व्यर्थ है।...

पीले चेहरेवाला युवक फिर महीने की पहिली तारीख़ को आया। कहने लगा—"तबियत क्रमशः अच्छी हो रही है। डाक्टर माथुर बड़े सिद्धहस्त हैं। इतनी जल्दी और कोई भी मुझे अच्छा नहीं कर सकता था।"

डाक्टर ने कहा—"बेशक-बेशक!"

हृदय-रोगी ने और बात नहीं की, सामने जो सामाचार-पत्र पड़ा था उसे उठा ले कर प्रथम पृष्ठ पर दृष्टि लगा कर कहा—"मैं तब तक अख़बार देखता हूँ। आप मशीन फ़िट कीजिये!"

डाक्टर ने प्रसन्नता से कहा—"अच्छा-अच्छा," और तुरन्त उठ गये। 'एक्स-रे रूम' में दस-बारह मिनिट बिता कर फिर उसे आवाज़ दे कर बुलाया। युवक ने आते ही कपड़े उतार दिये, फिर कुरसी को सीधा करता बोला—"पिछली बार तसवीर बहुत साफ़ आई थी।"

"सच ?"

"जी हाँ, इतनी साफ़ पहिले नहीं आई थी।"

डाक्टर ने आह्लादित हो कर कहा—"जी—" फिर अपना चश्मा निकालते-निकालते कह उठे—"अच्छा, इस बार भी उसी से उतरवायें !"

हृदय-रोगी ने कहा—"जी—"

नीरजा उस समय लेटी-लेटी एक अंग्रेज़ कवि की कवितायें पढ़ रही थी।

पिता का आह्वान सुन कर उठ आई। सामने पीले चेहरेवाला युवक सूखी छाती की ठठरी खोले कुरसी पर निश्चेष्ट बैठा था। देख कर नीरजा के दिल में जाने कैसा एक 'सनाका' हो गया। फिर वह पिता के आदेशानुसार काम करने लगी।

कुरसी तनिक तिरछी पड़ती थी। डाक्टर ने यन्त्र से देख कर कहा—"ज़रा कुरसी घुमा दो, बहुत थोड़ी, पच्छिम को।"

नीरजा शिथिल-सी हो कर उस के पास आई। युवक उठ कर खड़ा हो गया। नीरजा ने कुरसी ठीक कर दी। रोगी फिर बैठ गया। नीरजा यन्त्र के पास जा पहुँची।

पट्टी बाँधी गई। चश्मा लगा कर नीरजा ने स्विच दबाया। 'घर्र-घर्र-घर्र' और तसवीर उतर गई।

युवक ने कपड़े पहिन कर कहा—"परसों आऊँ ?"

"जी हाँ"—डाक्टर बोले।

रोगी ने नमस्ते की और चल दिया। दरवाज़े के पास जाते-जाते एक नज़र नीरजा पर डाली। यह कैसी नज़र है !...

× × × ×

नहीं, अब वह बच जायेगा। किसी दिन स्वस्थ हो कर पिता से भेंट करने आयेगा। शायद घर पर दावत होगी; शायद पिता के साथ उसे भी निमन्त्रण देगा। वह उस के घर जायेगी। थोड़ी उमर की नव-विवाहिता पत्नी से उस का परिचय करायेगा, कहेगा--'डाक्टर साहब की पुत्री—' तब नवयुवती पत्नी घूँघट को तनिक ऊपर खींच कर, पतले लाल ओठों पर आनन्द की हलकी मुसकान ला कर, चूड़ियों भरे, मेंहदी रँगे हाथ से नीरजा का हाथ पकड़ कर कहेगी--'बैठो बीबी जी!' फिर शायद दोनों साथ बैठ कर खाना खायेंगी। पिता कहेंगे—'चलो बेटी!' तो शायद वह आने न देगी, कहेगी—'आज रात भर यहीं रहो न!'—लेकिन वह 'उस' के लिये क्या 'जतन' कर रही है? पिता सोलह रुपया फ़ीस ले कर एक्स-रे कर देते हैं और वह पास रहती है; बस!--लेकिन नीरजा को इस हृदय-रोगी के लिये इतना सोच-विचार काहे को है?

हृदय चिन्तनशील है; वह 'कवि' हो गया है। एक उच्छ्वास ले कर हृदय ने कहा—'उसे देख कर जाने कैसा लगता है!' कैसा लगता है? 'करुणा लगती है—मोह लगता है!' क्यों?—नीरजा ने अपने आप मानो लजा कर कहा—'क्या जानूँ!' हृदय ने गम्भीर हो कर कहा—'अब वह बच जायेगा; डर नहीं है।' डर काहे का? 'मौत का!' लेकिन मौत तो रोज़ अनेकों की होती है, तुम्हें चिन्ता क्यों? नीरजा ने मानो कातर हो कर अपने से कहा—'ऐसी बात न कहो, बहुत पीर लगती है!' पीर कैसी? 'जैसी उस की दृष्टि में है, जैसी पीर वह हर बार नीरजा के ऊपर उँडेल जाता है।' मानो वह नदी के अथाह जल में हज़ारों मील से तैरता आया है; नीरजा अपनी छोटी डोंगी पर अकेली पतवार लिये बैठी है; डोंगी के निकट आ कर, थक कर चूर-चूर हुये हाथ बार-बार ऊपर उछाल कर करुण दृष्टि से नीरजा की ओर देख रहा है! हाय, नीरजा क्या करे?...

अपने बड़े कमरे में बैठे पिता किसी से बात कर रहे थे। स्वर

सुन कर नीरजा पिछले दरवाजे से झाँक कर देखने लगी। वह हृदय-रोगी आया है! तसवीर हाथ में लिये है क्या?

पिता बोले—"मैं तो सोच में पड़ गया था भाई!"

पीले चेहरेवाले युवक ने हँस कर कहा—"नहीं; आप ने ग़लत ख्याल किया है। यह घाव बढ़ कर इतना गहरा और बड़ा नहीं हुआ है; यह अब भीतर से भरता आ रहा है; यह 'ज्यादा कालापन' यह उस पर झिल्ली चढ़ रही है, यह चारो तरफ़ उस के खाल पुर रही है।"

"अगर ऐसा हो तो बड़ा अच्छा है।"

"अरे, आप डाक्टर माथुर का कहना तो मानेंगे! उन्हीं का बतलाया मैं आप को बतला रहा हूँ। अब मेरी तबियत पहिले से कहीं अच्छी है; आप मेरा चेहरा नहीं देखते!"

"चेहरा!" डाक्टर ने कहा—"चेहरा तो भाई, वैसा ही है; कोई ख़ास बात तो नहीं देखी।"

पीले चेहरेवाला युवक हँसने लगा। लेकिन यह कैसी विचित्र हँसी है! देख कर नीरजा को भय-सा लगने लगा।

रोगी ने कहा—"अब धीरे-धीरे चेहरे में परिवर्त्तन होगा। मैंने 'लक्ष्मी होटल' में अपने खाने-पीने का प्रबन्ध किया है, वहाँ सब ठीक तरह से हो जायेगा।"

"क्या आप की 'फ़ेमिली' नहीं है?"

"जी नहीं।"

"माता-पिता?"

"जी नहीं।"

"भाई—?"

"कोई नहीं है।"—रोगी ने तनिक मुसकरा कर कहा—"एकदम अकेला हूँ। एक बहिन है, वह अपनी सुसराल में है।"

डाक्टर चुप उस का मुँह देखते रहे। नीरजा के कलेजे को मानो किसी ने ठण्डी शलाका से छू दिया।

रोगी ने स्तब्धता तोड़ कर कहा—"तो कल फिर आऊँ?"

"एक्स-रे के लिये ?"

"जी; मैं सोचता हूँ, एक और ले लिया जाय, हर्ज ही क्या है ! इस 'कालेपन' के बारे में आप का जो सन्देह है, वह भी मिट जायेगा।"

"अच्छी बात है; कल आइये।"...

रात को भोजन की बेला, पिता ने अपने आप बात छेड़ी, बोले—"तुम ने यह नई तसवीर उस रोगी की देखी ?"

नीरजा के भीतर क्यों 'धक्' से हो गया ?

हौले से कहा—"नहीं।"

"कुछ समझ में नहीं आता,"—डाक्टर ने सिर डाले-डाले कहा—"घाव इस बार इतना गहरा और चौड़ा हो कर आया है कि क्या कहूँ ! और वह कहता है कि—अच्छा हो रहा है, खाल पुर रही है।"

नीरजा सुनती रही।

पिता बोले—"इस तरह का सिर्फ एक रोगी मैंने और देखा था। दो साल हुये, उस का एक्स-रे किया था; ठीक यही शकल आई थी छाती की, बल्कि इस से कम ही। वह दिन-रात दर्द के मारे छटपटाता था; दूसरे महीने उस की मौत हो गई।"

"मौत हो गई !"—नीरजा एकाएक काँप कर कह उठी।

"हाँ," पिता ने कहा—"यह शकल असाध्य रोग की है। घाव फेफड़ों के पार पीठ तक जा पहुँचा है। लेकिन वह कहता है और डाक्टर माथुर कहते हैं कि—ठीक हो रहा है। अचरज की बात है बेटी !"

नीरजा कुछ नहीं बोली।...

दूसरे दिन जब अकेले डाक्टर चुपचाप एक्स-रे करने लगे तो पीले चेहरेवाले युवक ने जाने कैसे स्वर में पूछा—"आप की पुत्री आज नहीं आईं—"

डाक्टर ने काम में लगे-लगे कहा—"हाँ, नहीं आई; बुलाया था मैंने अभी, मना कर दिया। शायद उस का जी अच्छा नहीं है।"

रोगी चुपचाप तसवीर उतरवा कर चलने लगा तो डाक्टर ने उसे

सुना कर कहा--"आज मुझे वक्त मिला तो डाक्टर माथुर के पास जाऊँगा। मुझे बहुत सन्देह है।"

रोगी ने चौंक कर पूछा--"क्या आप आज डाक्टर माथुर के पास जायेंगे?"

"हाँ, उन से जा कर पूछूँगा—"

रोगी ने कहा--"लेकिन वे तो कल कहीं चले गये हैं।"

"कहाँ?"

"पता नहीं; नौकर कहता था--रविवार तक लौटेंगे।"

डाक्टर को बड़ा आश्चर्य हुआ। रविवार तक लौटेंगे, अपने मरीज़ों के लिये क्या प्रबन्ध कर गये हैं? धीरे से बोले--"अच्छा!"

× × × ×

पहिली तारीख को वह फिर आया। डाक्टर आरामकुरसी पर लेटे कोई किताब पढ़ रहे थे। पेज मोड़ कर बोले--"कहिये, क्या हाल है?"

"हाल अच्छा है।"

"बड़ी ख़ुशी की बात है। और सुनाइये!"

"और क्या सुनाऊँ; एक्स-रे कीजिये।"

"एक्स-रे!"—डाक्टर ने चौंक कर कहा—"अभी पाँच-छः दिन पहिले तो आप एक्स-रे करा चुके हैं!"

हिचक कर रोगी ने कहा--"मैं एक और मतलब से यह एक्स-रे करवाना चाहता हूँ।"

"क्या मतलब है, बतलाइये।"

पीले चेहरेवाले युवक ने कहा—"इस बार पीछे से--"

"पीछे से!"

"जी हाँ; पीठ की ओर से। आप का क्या ख्याल है; ठीक नहीं रहेगा?"

डाक्टर ने सोच कर कहा--"हाँ, यह आप ने मार्के की बात कही। इस तरह हम घाव को उधर से भी देख पायेंगे।"

युवक के चेहरे पर तनिक प्रसन्नता आ गई।...

एक्स-रे की तैय्यारी हुई। डाक्टर फ़िटिङ्ग करते-करते कहने लगे—"मैं आज डाक्टर माथुर की फ़ार्मेसी की ओर गया था।"

रोगी ने अचकचा कर कहा—"अच्छा!"

डाक्टर बोले—"लेकिन जाना बेकार ही हुआ; फार्मेसी उन की बन्द थी। शायद अभी बाहर से लौटे नहीं।"

तेज़ी से युवक ने कहा—"हाँ, अभी नहीं लौटे हैं।"

इस बार भी पहिले की तरह डाक्टर अकेले ही थे। रोगी ने दबे स्वर में पूछा—"क्या आप की पुत्री की तबियत ठीक नहीं है?"

"नहीं, तबियत उस की ठीक है।"

रोगी चुप रह गया। डाक्टर फिर कहने लगे—"वह आना नहीं चाहती; मन है उस का। कभी ख़ुद ही चली आती है।"

रोगी चुपचाप पीठ की तसवीर खिचवाने लगा।

चलते समय फिर उस ने पूछा—"आप परसों शाम को घर पर रहेंगे न?"

"क्यों?"

"मेरा मतलब था—परसों दिन में मुझे कुछ काम है; शाम को आ पाऊँगा। उस समय अगर आप न रहें तो कोई हर्ज नहीं है; आप तसवीर—"

डाक्टर ने बात काट कर कहा—"नहीं-नहीं, शाम को तो मैं कहीं नहीं जाता। यहीं अपने बगीचे में टहलता रहता हूँ।"

युवक ने धीरे से कहा—"अच्छी बात है।" फिर वह नमस्ते करके चला गया।

× × × ×

शायद कोई पर्व आ पड़ा था। स्कूल, आफ़िस दो दिन के लिये बन्द थे। डाक्टर अपने हॉल कमरे में थे। ऊपर छत में जो बिजली का पंखा लगा था वह बहुत ऊँचाई पर था, पावर कम थी। कारीगर मरम्मत करने आया था।

दरवाज़े पर से किसी ने कहा—"नमस्ते, डाक्टर साहब !"

डाक्टर ने घूम कर देखा,—"ओ, आप ! आइये-आइये !"

यह वही हृदय-रोगी था। भीतर घुसने लगा तो डाक्टर ने चंचल हो कर कहा—"चलिये, बग़लवाले कमरे में बैठेंगे; यहाँ खटपट हो रही है। कहिये, तबियत तो ठीक है ?"

युवक ने पीछे चलते-चलते कहा—"जी हाँ, ठीक है।"

जब दोनों जने आमने-सामने यहाँ कुरसियों पर आ बैठे तो डाक्टर उस के चेहरे को दृष्टि गड़ा कर देखने लगे। क्या बात है ?

पीले चेहरेवाला युवक जाने क्या कह रहा था; वह कहता गया। डाक्टर बीच में ही अचम्भित स्वर में बोले—"क्या इधर आप को कुछ तकलीफ़ हो गई थी ?"

"तकलीफ़ !"—युवक रोगी ने कहा—"क्या मतलब ?"

डाक्टर ने अचकचाते हुये कहा—"आप का चेहरा—आप का चेहरा मुझे आज बहुत वैसा दीख रहा है..."

रोगी क्षण भर चुप रहा, फिर एकाएक सिर हिला कर कहा—"ओ—हाँ, वह यह बात हुई, हाँ, कुछ तकलीफ़ हो गई थी, पेट में कुछ तकलीफ़ थी।"

पर डाक्टर उस का मुँह अभी तक लगातार देख रहे थे। पीले चेहरेवाले ने अस्थिर हो कर कहा—"आज अभी एक्स-रे करेंगे ?"

"एक्स-रे !"—डाक्टर ने कहा—"क्या आज फिर एक्स-रे करवाइयेगा ?"

युवक रोगी ने विचलित हो कर कहा—"बात यह है कि मैं तो नहीं चाहता था, लेकिन कल डाक्टर माथुर ने कहा कि—एक एक्स-रे पीठ का और करा लो; वह जो अभी आप ने तसवीर खींची है वह शायद साफ़ नहीं आई—डाक्टर माथुर ने कहा।"

"डाक्टर माथुर ने कहा है ?"

"जी—" युवक ने सिर डाले कहा।

"अच्छा !"—डाक्टर अचरज से बोले।

एक्स-रे रूम में आ कर जब डाक्टर तैय्यारी करने लगे तो पीले चेहरेवाला हृदय-रोगी अपने आप भीतर आ खड़ा हुआ। फिर ऊपर जो कलपुर्जे लगे थे उधर नज़र करके यह कहा—"मेरी राय यह है—"

"कहिये !"

युवक ने उसी तरह नज़र बचाये कहा—"आप की पुत्री ने जो तसवीरें ली थीं वे ही सब से ज्यादा साफ़ आई—"

डाक्टर हाथ का काम छोड़ कर क्षण भर स्थिर खड़े रहे, फिर कुछ रूखे स्वर में कहा—"आप क्या बात करते हैं ! उस ने क्या कभी प्लेट्स उतारे हैं, केवल शौक़िया मैं उसे बुला लेता हूँ। आप समझते हैं, वह मुझ से ज्यादा एक्सपर्ट है ?—"

रोगी ने मानो घबरा कर कहा—"ओ, मेरा मतलब यह नहीं था—"

"फिर ?"—डाक्टर उस के निष्प्रभ मुख पर दृष्टि जमा कर बोले।

रोगी मानो डर कर बोला—"मैं—मैं यही कह रहा था कि अगर आप उन्हें इस कला की शिक्षा दें तो वे बहुत जल्दी—"

डाक्टर मानो प्रसन्न हुये, मुसकरा कर कहने लगे—"बेशक-बेशक, लेकिन भाई, मैं उस से ज़बरदस्ती कोई काम नहीं करा सकता। उस की तबियत जाने क्यों इस से उचाट सा गई है ! पहिले वही सारे प्लेट्स धोती थी; अब उन्हें देखना तक पसन्द नहीं करती।"

रोगी मौन रहा।

डाक्टर ठीक-ठाक करके बोले—"बच्चा है बिलकुल, मनमौजी है; अब फिर किसी दिन आ कर मुझ से प्लेट छीन कर धोने लगेगी।"

फिर रोगी की ओर मुख़ातिब हो कर बोले—"अरे, अभी तक आप ने कपड़े नहीं उतारे !"

तब पीले चेहरेवाला युवक चुपचाप कपड़े उतार कर सूखी देह खोल कर अपने आप कुरसी ठीक करके आ बैठा। डाक्टर ने दूर से देख कर कहा—"इस तरह नहीं, फिर पास आ कर उस की पीठ पर एक हाथ रख कर दूसरे से उस का सीना तिरछा करने लगे। ज्यों ही डाक्टर ने सीने से हाथ लगाया, रोगी युवक साँस खींच कर 'उफ़' कह

उठा। डाक्टर ने चौंक कर हाथ हटा लिया, फिर घबरा कर बोले—"क्या यहाँ पर दुखता है ?"

युवक का चेहरा और ज्यादा सफेद हो गया था; किसी तरह कहा—"नहीं; मेरे पेट में दर्द हो रहा है। उफ़ !"

डाक्टर साहब ने चिन्तित हो कर कहा—"लेट रहिये; इधर आ जाइये।"

हृदय-रोगी ने सिर झुकाये-झुकाये कहा—"कृपा करके मेरे लिये एक ताँगा मँगवा दीजिये।"

डाक्टर ने दौड़े जा कर नौकर को ताँगा लाने भेजा।

रोगी ने अस्त-व्यस्त दशा में कपड़े गले में डाले, फिर वह डगमग होता हुआ कमरे से निकल कर ताँगे में जा बैठा।

× × × ×

बाँह के नीचे तकिया दबा कर सीने के बल लेटी नीरजा अचल हो कर यह कविता पढ़ रही थी:—

"अच्छा रानी, अपने सुख के दिनों में क्या कभी तुम्हें यह बात याद आयेगी कि—एक दिन जब साँझ हो गई थी, कोई एक थका-माँदा राहगीर कि जिस का कहीं आश्रय न था, धीरे-धीरे तुम्हारी खिड़की के नीचे आ खड़ा हुआ। उस की देह थक कर चूर-चूर हो रही थी, उस के पाँवों पर धूल चढ़ी थी, उस के बालों पर धूल छाई थी; उस का मुँह सूख रहा था, उस के ओठ सूख गये थे। वह एक रात के लिये 'बसेरा' चाहता था। तुम्हारी खिड़की के नीचे वह जाने कैसे आ खड़ा हुआ था। वहीं खड़े रह कर, ऊपर को मुँह करके सतृष्ण-कातर आँखों से, कि जिन को 'जोत' बुझ गई थी, वह टकटकी लगाये रहा, बहुत देर तक। गरदन फिरा उठी, आँखें पथराने लगीं; पर खिड़की पर कोई नहीं आया—किसी ने भी नहीं पुकारा !

तब वह अभागा धीरे-धीरे अपने थके पैरों को घसीट कर, नज़र नीची करके सामने की सुनसान सड़क पर आ गया। वह सड़क बहुत

दूर—जाने कहाँ तक चली गई थी। साँझ के उदास अँधेरे में वह नसीब का मारा राहगीर धीरे-धीरे कहीं विलीन हो गया!

उस समय तुम अपनी अटारी पर चढ़ कर सुग्गे को 'राम-नाम' पढ़ा रही थीं..."

ठीक इसी समय डाक्टर साहब छड़ी हाथ में लिये उस के पास आ खड़े हुये। नीरजा विभोर हो गई थी। पिता की आवाज़ सुन कर चौंक पड़ी।

डाक्टर वहीं पलंग पर बैठ गये, फिर थके से स्वर में कहने लगे—"तुम्हें एक अचरज की बात सुनाऊँ बेटी!"

सिर का अंचल ठीक करके नीरजा बैठ गई। पिता कहने लगे—"वह जो हृदय-रोगी युवक एक्स-रे कराने आया करता है, उसी की बात है। आज डाक्टर माथुर मिल गये थे मुझे 'परिषद्' में। उन से मैंने उस रोगी की चर्चा उठाई, पूछा कि क्या वाक़ई उस का घाव ठीक हो गया है, मुझे तो तसवीर देख कर सन्देह लगता है कि वह गहरा हो गया है। डाक्टर माथुर स्तम्भित हो कर बोले कि— किस की बात कह रहे हैं? मैंने रोगी की रूप-रेखा बतलाई। आँखें चौड़ी करके बोले—'क्या वह अभी तक जीवित है!' क्या उत्तर दूँ? डाक्टर माथुर आश्चर्य प्रकट करके बोले—'वह तो तभी तीन-चार महीने पहिले मेरे पास आया था, पहिला प्लेट और आप की चिट्ठी ले कर। शकल देख कर लगा था कि—यह ज्यादा दिनों तक बचेगा नहीं। दो बार उठ कर बाहर थूकने गया, दोनों बार ताज़ा खून मिला थूक गिरा। घंटा भर लगा कर परीक्षा की। फेफड़े अभी बहुत ख़राब नहीं हुये हैं, शायद कोशिश करने पर बच जायेगा—सोच कर मैंने औषधि लिख दी और भोजन की चिट भी बना दी। और रोज़ हालत की ख़बर देने को कह दिया। पर एक सप्ताह तक उस का कोई समाचार नहीं मिला। फिर अचानक एक दिन सामने आ खड़ा हुआ, कहने लगा कि—डाक्टर साहब, यह दवा तो मैं हर बार ख़रीद नहीं सकता, बहुत ग़रीब आदमी हूँ। तहसील में पच्चीस रुपये महीने का

नौकर हूँ। इतनी क़ीमती दवा खा कर फिर और ख़र्च कैसे चलाऊँ? मुझे उस के ऊपर दया लगी। उस बार की दवा के दाम नहीं लिये। कहा कि—तुम फल और दूध का सेवन करो। बस, फिर वह मेरे पास नहीं आया। क्या आप को उस का कुछ हाल मिला है?' मैंने उन्हें रोगी की कही एक-एक बात बतलाई, सभी असत्य निकला। अवाक् रह गया।—तुम्हें मालूम है? वह परसों फिर एक्स-रे करवाने आया था!"

नीरजा निस्तब्ध भाव से सुनती रही।

डाक्टर कहने लगे—"कुछ भी समझ में नहीं आता; पच्चीस रुपये का नौकर, वह हमारे यहाँ दस बार एक्स-रे करा चुका! दवा खाने को पैसे नहीं, फल खाने को दाम नहीं, हर बार पूरे सोलह रुपये दे कर एक्स-रे कराता गया, आख़िर क्यों? क्या उस का दिमाग़ ख़राब था?"

नीरजा निस्तब्ध भाव से सुनती रही।

सोच कर डाक्टर फिर कहने लगे—"हो सकता है, दिमाग़ उस का ख़राब हो सकता है; हृदय-रोगियों के दिमाग़ अक्सर ख़राब हो जाते हैं परसों उस की शकल देख कर मुझे बड़ी शंका लग रही थी। तुम अगर देख पातीं तो डर उठतीं, जैसे मृत्यु की छाया आँखों से झाँक रही थी!"

नीरजा निस्तब्ध भाव से सुनती रही।

डाक्टर रुक कर बोले—"अब समझ में आ रहा है, पेट में नहीं, उस के सीने में—घाव में दर्द हो रहा था। लेकिन क्यों वह छिपाना चाहता था? क्यों दवा न करके इतनी बार एक्स-रे कराने आया? ज़रूर उस का दिमाग़ ख़राब हो गया है; अक्सर हृदय-रोगियों के दिमाग़ ख़राब हो जाते हैं। लेकिन—"

नीरजा कुछ नहीं बोली।

नौकर कुत्ते को नहला कर उसे धूप में ले आया। डाक्टर ने देख कर कहा—"बैठक बन्द कर आ बुद्धू, और ऊपर का कमरा खोल दे। थक गया हूँ, अभी आराम करूँगा।"

× × × ×

उसी दिन रात होने से पहिले नौकरानी के छोटे लड़के किशुन ने 'नीरजा दीदी' को एक चिट्ठी ला कर दी। चिट्ठी पर नीरजा का नाम है। यह चिट्ठी डाकघर से नहीं आई है; कोई यों ही हाथ से किशुन को दे गया है।

नीरजा तब से निश्चेष्ट भाव से पलंग पर सोई थी—सोने की तरह लेटी थी। दासी आ कर कमरे में उजाला कर गई। सामने का झरोखा खुला था। 'फर-फर' कर के उधर से बयार आ रही थी। पलंग पर लेट कर एक किनारे से खुला आसमान दीखता है, एक किनारे से भौलसिरी की डालियाँ और पत्ते। इस समय अँधेरे में सब 'एकाकार' होता जा रहा है। केवल आसमान के कोने से एक सद्यः उदित नक्षत्र टिम-टिम-करके चमक रहा है। नीरजा मानो उसी 'एक तारा' का 'सम्बल' ले कर अनन्त आकाश में उड़ती चली जा रही थी—उड़ती चली जा रही थी! क्या कहीं टिकने की ठौर नहीं है?

इसी समय नौकरानी के छोटे लड़के किशुन ने 'नीरजा दीदी' को एक चिट्ठी लाकर दी। नीरजा क्या अभी अचेतन थी?

वह अन्यमनस्क भाव से उठ कर चिट्ठी खोल कर पढ़ने लगी:—

"नीरजा,

बहुत दिन पहिले की बात है। एक रेलगाड़ी स्टेशन छोड़ कर खेतों के बीच, मैदान में, पटरी पर दौड़ती चली जा रही थी। अनेक यात्री थे। एक डिब्बे में, कोने में खुली खिड़की के पास एक पन्दरह-सोलह साल का लड़का बैठा ऊँघ रहा था कि सामने की सीट से बिस्तर छोड़ कर एक दस-ग्यारह साल की लड़की उस के पास आ खड़ी हुई। थोड़ी देर यों ही खड़ी रही फिर हौले से कहा—'मुझे भी यहाँ बैठ जाने दो!' लड़के ने जगह दे दी; लड़की पास आ बैठी। पर लड़का झेंप रहा था। लड़की बहुत क़ीमती कपड़े पहिने थी; वह मानो किसी फूल की कली थी। लड़के के पास कुछ न था। वह अपनी चादर लपेटे बैठा था। लड़की बाहर की ओर देख कर बोली—'कैसे बढ़िया खेत हैं!' लड़का चुप रहा। कौर बीत रहे थे। धीरे-धीरे हवा ठंडी होने लगी। रेलगाड़ी

पटरी पर दौड़ती चली जा रही थी। लड़की ने अपने घुटने समेट लिये। लड़का देखता रहा। फिर लड़की ने उस की ओर मुँह करके कहा—'हमें भी उढ़ा लो, सर्दी लग रही है!' लड़के ने चादर का एक कोना आगे कर दिया। लड़की उसे अपनी देही में लपेट कर बैठ गई। बड़ी देर बैठी-बैठी वह मैदान के खेतों और बाग़ों को देखती रही। फिर उसी जगह ऊँघने लगी, फिर लड़के की गोदी में सिर आ धरा, फिर सो गई। पर लड़के की नींद जाने कहाँ चली गई?

लड़की को सर्दी न लगे, सोच कर चादर का दूसरा कोना भी उसे उढ़ा दिया और सर्दी से काँपता, गोदी में उस का सिर लिये जागता बैठा रहा।...

सारी रात यों ही बीत गई। भोर के समय जाने किधर से एक सज्जन घबड़ाये से आये और उस सोती लड़की को उठा ले कर बिस्तर पर जा सुलाया। रेलगाड़ी पटरी पर दौड़ती चली जा रही थी। रात भर जगने से आँखें भारी हो रही थीं। लड़के को नींद आ गई। फिर अचानक जग कर देखा—वे सज्जन उस लड़की को ले कर जाने कब ट्रेन से उतर गये हैं।...

नीरजा, वह लड़का मैं ही था। तब से कितनी ही रातें, कितने ही दिन और मास बीत गये; वह फूल की कली और कहीं देखने को नहीं मिली। जाने कहाँ से एक भयानक प्यास उस लड़की को देखने के लिये मेरी आत्मा को भीतर ही भीतर व्यथित करने लगी। दिन-रात—चौबीसों घंटे उसी की बात सोचता रहता। पर कहाँ? कहाँ उसे पाऊँ? कहाँ उसे खोजूँ, खोज कर कहूँ—'मुझे पहिचानती हो? हम तुम साथ-साथ यात्रा कर रहे थे। रात को मेरी मैली चादर ओढ़ कर तुम मेरी गोदी में सोई थीं!"

जाने कितने यत्न किये—जाने कितना सोचा। साल पर साल बीतते गये; पर मन के भीतर जो एक आग-सी सुलग रही थी वह एक क्षण को भी न बुझी। अहर्निशि मानो उस से 'लौ' उठती रहती, दिन रात 'होम' होता रहता।

तब पन्द्रह-सोलह साल का था। क्रमशः मेरी उमर बढ़ी; फिर बीस के पार हो गई। किसी तरह थोड़ा-सा पढ़ ले कर एक उदार सज्जन की कृपा से छोटी-सी नौकरी मिल गई। खाने, पीने और पहिनने में बहुत थोड़ा खर्च करता। प्रति मास अधिक से अधिक रुपये बचा कर, छुट्टियों में बिस्तर बाँध कर एक-एक शहर, एक-एक मुहल्ला, एक-एक घर का द्वार झाँकता फिरता। कहीं उसे एक बार देख पाऊँ, कहूँ—'हम तुम साथ-साथ यात्रा कर रहे थे। तुम रात को मेरी मैली चादर ओढ़ कर—' पर कभी भी हृदय की वह अतृप्त आकांक्षा पूरी न हुई! उस 'लाइन' के सभी स्टेशन—सभी नगर मैंने दो-दो बार छान डाले। अब कहाँ उसे पाऊँ? कोई अता नहीं है। अगर उसे एक बार पाता! वह मेरे पास जगह माँगने आई थी, मेरी चादर में लिपट कर गोदी में सोई थी। क्या मुझे नहीं पहिचान पायेगी? क्या मेरा सुख-दुख नहीं पूछेगी? पर कोई उपाय नहीं है—कोई चारा नहीं है। हाय, क्या करूँ? भीतर ही भीतर जो आग सुलग रही थी वह मानो 'भट्टी' बन कर सब छाती को जलाने लगी। और सहा नहीं जा रहा था।...

लखनऊ में, दोपहरी में एक सड़क पर निराश चेतना लिये थक कर चला जा रहा था। बड़े ज़ोर से खाँसी उठी। जब थूकने लगा तो देखा—ताज़ा लाल ख़ून है! डाक्टर के पास गया। शायद हृदय में घाव हो गया है; एक्स-रे करवाना होगा।

उस दिन फिर तुम्हारे पिता का पता पूछ कर आया। उसी दिन तुम्हें एक्स-रे रूम में प्रथम बार देखा।...

नीरजा, तुम्हीं वह लड़की हो! मैंने देखते ही पहिचान लिया। पहिचान कैसे न पाता! तुम मेरी गोदी में रात भर सोई हो। तुम्हारे तन की सुरभि अभी तक सूँघ पा रहा हूँ। तुम्हारे कपोल पर का तिल, उसे ख़ूब याद रक्खा है कि कहाँ पर है। तुम्हारी शकल पहिचानते मुझे आधा क्षण भी न लगा। जिस के लिये इतनी भाग-दौड़ की,

जिस के लिये इतना असंयत जीवन बिताया, जिस की दिन-रात चिन्ता की है, उसे पहिचानते कैसे भूल हो सकती थी ?

नीरजा, तुम्हीं वह लड़की हो, देख कर मैं शायद 'पागल' हो गया था।...

फिर अनेक यत्न करके प्रति मास रुपये जुटा कर, बीच-बीच में अनेकों से ऋण ले कर, तुम्हारे यहाँ एक्स-रे कराने आने लगा। तुम्हें पास पाने का और तो कोई उपाय न था, चार घड़ी निकट रहने की यही एक प्रक्रिया थी। उस के लिये मैं क्या नहीं कर सकता हूँ ? सब व्यय बन्द कर दूँगा, सब तरह से रुपये जुटाऊँगा, सब से ऋण लूँगा। इस प्रकार तुम्हें जल्दी-जल्दी अपने निकट देख रहा हूँ; ओह !

पर किसी भी दिन अपना परिचय नहीं दे सका—किसी भी दिन नहीं कह सका कि—'हम तुम साथ-साथ यात्रा कर रहे थे; तुम मेरी मैली चादर ओढ़ कर मेरी गोदी में सोई थीं।'

मैं जाने कैसे बन्धन से जड़ित हो कर परिचय नहीं दे सका। पर नीरजा, तुम क्या स्वयं मुझे नहीं पहिचान सकीं ? शायद पहिचाना, शायद नहीं। बहुत दिन हो चुके; तब तुम बहुत बालिका थीं। शायद सब भूल गई हो। तब मैं ही किसी प्रकार कहूँ; लिख कर जतला दूँ। तब फिर क्या होगा ? तुम जान पाईं कि मैं कौन हूँ। फिर आगे ? फिर और मैं तुम से क्या चाहता हूँ, क्या चाह सकता हूँ ? तुम राजरानी, मैं पथ का भिखारी ! अपना सुख-दुख कैसे तुम से कह पाऊँगा ? कह कर फिर क्या प्रतिकार चाहूँगा ? ना; सब व्यर्थ है। इसी तरह रहे, इसी तरह सब 'अव्यक्त' रहने दूँगा। कभी तुम से एक शब्द भी नहीं कहूँगा। मैं किसी योग्य नहीं हूँ, तुम्हारी 'करुणा' पाने के भी योग्य नहीं हूँ। कहाँ तुम—कहाँ मैं !

यही बहुत है, इतना ही काफ़ी है। मैं संतुष्ट हूँ, मैं परितृप्त रहूँगा। तुम्हें निकट से, इतनी देर तक देख तो पाता हूँ !

इसी तरह, पेट काट कर, उधारे रह कर, दिन-रात परिश्रम करके, रुपये जुटा कर तुम्हारे यहाँ एक्स-रे कराने आऊँगा। हृदय का घाव

चिरस्थायी हो, इसी के बहाने तुम्हें देख पाता हूँ, देख कर सुख में डूब जाता हूँ।...

रोग का इलाज नहीं कराया। इतना पैसा नहीं है; यदि घाव अच्छा हो गया तो फिर कैसे तुम्हारे घर आ पाऊँगा, कैसे तुम्हें निकट से देख पाऊँगा?...

सब ठीक तरह से चल रहा था। पर नीरजा, तुम ने तो अब एक्स-रे में आना बन्द कर दिया है! क्यों?

चार बार गया, चारो बार हताश हो कर लौट आया।

नीरजा, मैं बहुत ग़रीब आदमी हूँ। सोलह रुपये बड़ी कठिनता से हो पाते हैं। मेरे ऊपर जाने कितना ऋण हो गया है। इस तरह कब तक चलेगा? तुम्हें बिना देखे तो किसी तरह नहीं रह सकता।

नीरजा, क्यों तुम ने एक्स-रे में आना बन्द कर दिया है? तुम क्या इतनी निर्दय हो सकती हो!

एक दिन अपनी इच्छा से मेरे निकट आ कर बैठी थीं, एक दिन अपनी इच्छा से मेरी चादर का कोना माँगा था।

उतना नहीं चाहता हूँ नीरजा, प्रार्थना करके केवल तुम्हें निकट से देख लेना चाहता हूँ। अपने निकट नहीं बैठाऊँगा, अपनी मैली चादर का कोना नहीं उढ़ाऊँगा। केवल एक बार निकट से तुम्हें देख ले कर चला जाऊँगा।

एक दिन उतना स्नेह किया था, आज इतनी करुणा कर दो। उस दिन स्वेच्छा से पास आई थीं; आज प्रार्थना पर निकट से दर्शन दे जाओ!

नीरजा, तुम तो 'स्वर्ग की फूल' हो; तुम निष्ठुरता क्या जानो!...

एक सप्ताह हुआ, नौकरी छूट गई है। प्रतिदिन रात्रि भर मुँह से लाल रक्त मिला थूक निकल रहा है। जान पड़ता है, मेरी 'चिर-विश्रान्ति' का दिन आ रहा है।

नीरजा, अब और शरीर में तुम्हारे घर तक पहुँचने की शक्ति नहीं है। पर अभी सोलह रुपये मेरे पास हैं। इन रुपयों में से एक

भी पैसा खर्च नहीं करूँगा ; दूध नहीं पिऊँगा—पानी पी कर रह जाऊँगा। किसी तरह एक बार तुम्हारे घर आ कर एक्स-रे कराऊँगा।

पर नीरजा, इस बार तुम दया करके जरूर मेरे सामने आ जाना। यही अन्तिम बार है। अब और रुपये नहीं पाऊँगा, अब और तुम्हारे घर तक नहीं चल पाऊँगा, अब और तुम्हें नहीं देख पाऊँगा, अब और जीवित नहीं रहूँगा।...

नीरजा 'थर-थर' काँप रही थी। असमाप्त चिट्ठी के उन कागजों को छाती से चिपका कर वह पलंग पर गिर कर रोने लगी।

रो-रो कर कहने लगी—मैं तुम्हें कैसे पहिचानती! मैं पहिचान नहीं सकी। पर तुम ने तो पहिचान लिया था, फिर मुझे अब तक बतलाया क्यों नहीं!

रो-रो कर कहने लगी—मेरे लिये इतने कष्ट सहे। मेरे लिये ही मुँह से रक्त आया, मेरे लिये ही हृदय में घाव किया!

रो-रो कर कहने लगी—मुझे देखने के लिये सब रुपया स्वाहा करते रहे, भूखे रहे, ऋण किया, रोग का इलाज नहीं करवाया!

दुख से नीरजा का 'कवि हृदय' फटने लगा, भीतर ही भीतर चीत्कार करके रोती रोती कहने लगी—मैं कैसे सब बात जान पाती! तुम्हीं बतलाओ, कैसे जान पाती! अगर जान पाती तो क्या नीरजा तुम्हें इतनी पीर उठाने देती!...

व्यथा सह न पा कर वह पलंग पर इधर-उधर लोटने लगी, रुदन बाहर फूट पड़ना चाहता था। नीरजा ने दाँतों से ओठ दबा लिया, मुँह में साड़ी ठूँस ली ; भीतर ही भीतर क्रन्दन करके रो कर कहा—एक बार अपनी नीरजा से कह कर तो देखते! क्यों तुम ने नहीं कहा, क्यों नहीं कहा!

...मैं सामने नहीं गई। तुम्हारा मुख देख कर, तुम्हारी दृष्टि देख कर सहा नहीं जाता था। कैसे तुम्हें सहायता दूँ, सोच नहीं पाई। यदि जान पाती, मेरे लिये सब दुख उठा रहे हो—कैसे जान पाती? हाय, तुम ने कभी एक शब्द भी नहीं कहा!...

नीरजा चिट्ठी को कलेजे से लगाये छाती के बल लोट गई और फफक-फफक कर रोने लगी—हाय, अब वह क्या करे—क्या करे !

× × × ×

पौ फटने के समय मौलसिरी के पेड़ से किसी पक्षी का मीठा सुर सुन कर सहसा नीरजा की आँख खुली। चिट्ठी उसी तरह छाती से चिपकी थी। जल्दी से उसे ठीक करके नीरजा ने तकिया के नीचे छिपा दिया। फिर और लेटी नहीं रह सकी।

जाने क्या सोचती-सोचती आँगन में अकेली टहलने लगी। पर चित्त में जाने कैसी घबराहट-सी हो रही है। नीरजा सदर दरवाज़ा खोल कर बगीचे की ओर जाने लगी।

यह क्या है !

यह दरवाज़े की सीढ़ियों पर कौन है ?

अरे !

यह ख़ून, मांस !

नीरजा झुक कर देखने लगी।

फिर वह ख़ूब ज़ोर से चिल्ला कर पुकारने लगी—"पिताजी, पिताजी !"

आवाज़ सुन कर नौकर-चाकर और डाक्टर साहब भीतर से दौड़े आये। नीरजा थमले का सहारा लिये खड़ी थी।...

डाक्टर साहब बिना बोले बैठ गये। पीले चेहरेवाला हृदय-रोगी युवक ऊपर की सीढ़ी पर सिर झुकाये शिथिल पड़ा था। मुँह से मांस के टुकड़ों सहित ढेर सारा लाल रक्त निकल कर वहीं सीढ़ियों पर बह कर गाढ़ा हो गया था।

डाक्टर ने उस का माथा उठा कर छुआ, हाथ देखा, छाती टटोली, फिर खड़े हो कर उस रक्त की ओर निहार कर कहा—"मर गया।"

नीरजा मूर्त्ति-सी खड़ी थी; एक साथ पागलों की तरह आँखें फाड़ कर, काँप कर ज़ोर से बोली—"मर गया !"...

—❀—

प्रतिकार

खिड़की के उस पार, आधे आसमान में गहरे सुरमई रंग के बादल पानी से लदे खड़े थे और धीरे-धीरे चारो ओर अँधेरा बढ़ रहा था। ब्रजकिशोर निरीह दृष्टि से उधर देखने लगा। बरसात की ऐसी उदास सन्ध्या उस के निकट बहुत ही 'विथाकारी' हो उठती है। फिर भी संवेदन नहीं होता। संवेदन का सहारा जो नहीं है। दुख किस पर लगे ?

पड़ोस के निचले हिस्से में घर की छोटी-सी आधी खुली किवाड़ से बहुत धीरे-धीरे, बहुत मीठा कजरी का गुंजन बहता आया।

बहुत सुन्दर लगा। कौन गा रहा है ? होगा कोई। अपने दुख-सुख का आश्रय ले कर दुनिया गाती-रोती है। ब्रजकिशोर को क्यों चिन्ता हो ? उस ने तो अपना सब धीरे-धीरे खो दिया है।

गीत-लहरी रुक गई तो कौतुक कर के हठात् दृष्टि उधर जा पहुँची। देखा, एक हाथ से किवाड़ की किनारी पकड़े एक युवती स्त्री खड़ी है। सहसा उसी क्षण उस की भी दृष्टि उठी। दोनों ने एक दूसरे को देखा। युवती ने शरमा कर पलकें नीची कर लीं और सिर का अंचल ठीक करके तनिक आड़ में हो गई; तब ब्रजकिशोर भी संकोच कर के उधर से हट आया।

युवती को वह जानता नहीं था। तो भी अन्दाज लगाया कि वह पड़ोसी की पत्नी होगी।

इस ब्रजकिशोर का जीवन शून्यता से भरा है। जीवन के प्रातः-काल के बाद जब दिन चढ़ा था तब जाने कहाँ से सहसा ब्रजकिशोर की आँखों के आगे एक प्रतिमा आ खड़ी हुई थी। प्रतिमा बहुत सुन्दर थी। देख कर ब्रजकिशोर ने कहा—'तुम्हीं मेरी आराध्य हो!' सुन कर प्रतिमा मुसकराई। ब्रजकिशोर विह्वल हो उठा।

तब से उस के चारो ओर हर घड़ी केवल उस प्रतिमा की ही सुधि रही। इसी तरह दिन चढ़ता आ रहा था। ब्रजकिशोर जाने कहाँ-कहाँ से तरह-तरह के पत्र-पुष्प लाता, प्रतिमा के हाथों में धर देता, प्रतिमा मुसकरा देती!

कि अचानक एक दिन दुनियावालों ने ब्रजकिशोर को प्रतिमा के आगे, आँखों में मोह भरे, खड़ा देख लिया। दुनियावाले बहुत क्रुद्ध हुये; डपट कर बोले—"तुम बहुत बेहया हो ब्रजकिशोर!"

ब्रजकिशोर ने कातर स्वर में कहा—"मैं उस के बिना मर जाऊँगा!"

दुनियावालों ने कहा—"चुप रहो मूर्ख!"

ब्रजकिशोर ने प्रतिमा की खिड़की पर आ कर कहा—"तुम तो कुछ कहो!"

प्रतिमा बोली—"क्या कहूँ?"

"प्रणय की बात!"

प्रतिमा ने शान्त स्वर में कहा—"मैं नहीं कहूँगी।"

"तुम्हें मुझ से प्रेम नहीं है रानी?"

पर प्रतिमा ने उत्तर न दिया।

ब्रजकिशोर रो उठा।

प्रतिमा की खिड़की बन्द हो गई।...

तब से ब्रजकिशोर का जीवन शून्यता से भरा है। और वह शून्यता जीवन के साथ प्रतिदिन बढ़ती गई है।...

पहिले बहुत दुख लगा था। जब उस सोने-सी प्रतिमा ने बिना कुछ कहे उस के सामने अपनी खिड़की बन्द कर ली तो ब्रजकिशोर की काया से मृत्यु होने लगी थी। बहुत दुख लगा था।

अब वह सब नहीं है। प्रतिमा के प्रति क्रोध और तिरस्कार भी नहीं है—फ़रियाद और पुकार भी नहीं है। किसी के प्रति कुछ नहीं है। उसे कोई गाली दे ले तो क्या और कोई उस की तारीफ़ कर दे तो क्या! अब वह सब नहीं है।

ना, अब किसी की आँखों से ब्रजकिशोर की ये उदास आँखें यांत्रा नहीं करेंगी; आँखें अब लक्ष्यहीन हो गई हैं। इसी से वह 'मूक' हो कर—दुख-दर्द भूल कर सादा ढंग से जीवन बिता रहा है।...

बहुत सालें हुईं। प्रतिमा की अनेक बातें उसे विस्मृत हो चुकीं। कभी जो अब मन घूमता-घामता उस सोने-सी प्रतिमा का ध्यान करता है तो कोई शकल ही नहीं उतरती, शकल याद ही नहीं होती।

कई बार इच्छा हुई कि आख़िर कभी कुछ पूछें-पाछें भी तो कि उस के क्या हाल-चाल हैं। कि अब तो वह गृहस्थिन है, बच्चा है उस के, कि जो कुछ भूल-चूक हुई है सो अब उसे क्यों याद रक्खा जायेगा? कि अब तो अपना कोई सम्बन्ध ही नहीं है, फिर काहे को नाराज़गी और काहे की कहा-सुनी! कि अपने-अपने घर अलग-अलग बहुत दूर-दूर रह रहे हैं। कि अब जो कहीं ब्रजकिशोर वैसे ही उस की हँसी-ख़ुशी के समाचार जान ले तो कौन हानि है? कि उस हँसी-ख़ुशी को घटाने-बढ़ाने की बात तो अब उस के मन में है ही नहीं।

सो भी नहीं हो सका। इसलिये कि, जब इतनी बड़ी 'खाई' विच्छेद की बीच में बन गई तो फिर उसे लाँघ कर मात्र उस किनारे से रहनेवाले को देख ले कर वह क्या करेगा? अरे, होगा कोई, आख़िर ब्रजकिशोर को उस से मतलब ही क्या।

पर जैसे कहीं अज्ञातरूप से मन में कोई बहुत पतले कच्चे धागे-सा 'कनेक्शन' रह गया था। सो बहुत संकुचित हो कर, उसी कच्चे धागे को पकड़ कर, एक दिन फिर ब्रजकिशोर ने झूलने की कोशिश की।...

जब किताब का फ़ाइनल प्रूफ़ सामने आया तो ब्रजकिशोर ने काँपते-काँपते 'समर्पण-पत्र' पर अपनी उस सोने-सी प्रतिमा का नाम 'कित कर दिया!

पूरे खुले पेज के बीच नाम छप कर किताब में आ गया तो ब्रजकिशोर उस पेज को खोल कर देखने लगा; जैसे वे उतने अक्षर बहुत गाढ़े हो कर, बहुत गहरे लगे थे। एक बार अँगुली से उन्हें मिटा कर देखा, अक्षर बिलकुल नहीं मिटे। दस प्रतियाँ सामने थीं। ब्रजकिशोर ने दसों को खोल कर देखा, दसों में वह 'समर्पण-पत्र' था—दसों में वही नाम था!

हाय, उस ने यह क्या कर डाला?

... ...

मेंह की रात जब करुण सन्नाटे में विश्व के विरह का गीत अलाप रही थी, ब्रजकिशोर करवट बदल कर उठ बैठा। उस ने प्रतिमा का नाम पुस्तक में अंकित कर दिया है। क्या वह नाम अमिट रहेगा? या वे अक्षर उखड़ जायेंगे?

प्रतिमा के हाथों में जब यह पुस्तक पहुँचेगी, जब वह अपने नाम पर किये गये 'समर्पण' को पढ़ेगी, तब उस के दिल में क्या होगा? ब्रजकिशोर किसी तरह उस क्षण में प्रतिमा के मुख का भाव देख पाता!

वह उठ कर कमरे में टहलने लगा और कहने लगा—क्या इस से उसे दुख होगा? मैंने शब्दों का रूप दे कर हृदय का इतना धन बाहर कर दिया है। क्या वह 'धन' प्रतिमा के चरणों में स्थान पाने के भी योग्य नहीं है? क्या सचमुच मैं उस के निकट इतना 'हेय' हूँ?

तब मन के किसी दुर्बल अंश से बहुत हौले से आवाज आई—वह इसे देख कर रो उठेगी, फिर और संवरण नहीं होगा। उस का हृदय बहुत सुकुमार है; कभी उस ने तुम्हें प्यार किया था! तुम्हारा यह 'समर्पण' पढ़ कर उस की कई रातें आँखों में कट जायेंगी,—आकुल हो कर, कोई प्रतिकार न पा कर छटपटाती रहेगी। कभी उस ने तुम्हें प्यार किया था—हाँ, प्यार किया था...

जाने कैसे भावावेश से उस का हृदय आन्दोलित हो उठा। इसी समय 'कड़कड़' कर के कहीं बिजली गिरी। ब्रजकिशोर चौंक कर अपनी खिड़की पर आ खड़ा हुआ। मेंह 'झमझम' कर के गिर

रहा था। कहाँ वह बिजली गिरी है, कुछ भी पता नहीं चला। दुर्भेद्य अंधकार में आँखें फाड़ कर ब्रजकिशोर देखता रहा, कुछ नहीं दीखा; केवल पड़ोस के दरवाज़े की तनिक-तनिक झाईं पड़ी।

इसी दरवाज़े पर आज अचानक 'उन्हें' खड़ा देखा था। वे शायद पड़ोसी की पत्नी हैं। अब इस समय क्या कर रही होंगी? सो रही होंगी। डेढ़ पहर रात खिसक चुकी है, इस कुबेला भला कौन जागता होगा! केवल ब्रजकिशोर के लिये बेला-कुबेला कुछ नहीं है।

'कड़-कड़-कड़!' फिर बिजली गिरी। ब्रजकिशोर ने खिड़की की छड़ें कस लीं। पर उसी क्षण में आँखें देख पाईं कि पड़ोस का दरवाज़ा आधा खुला है। खड़ा है कोई; वे ही हैं क्या?

ब्रजकिशोर आशंका कर के खड़ा रहा। आँखें दरवाज़े पर लगी थीं। बिजली चमकी तो देख भी लिया, वे ही हैं!

—जाग रही हैं। क्या उन्हें भी कोई बेला-कुबेला नहीं है? क्यों इस निचाट रात में इस तरह खड़ी हैं?

... ...

तब से वह कितनी ही बार उन्हें अपने दरवाज़े के पास अँधेरे में खड़ा देख चुका है। पड़ोसी से उस का परिचय नहीं है। सुना था कि वह अच्छा आदमी नहीं है। क्या बुराई करता है, कैसे जीवन काटता है, सो ब्रजकिशोर को नहीं मालूम।

पर अब जैसे जान लेना आवश्यक हो गया है। वे क्यों उस तरह आँखों में विषाद और चेहरे पर उदासी लिये चुप-चुप खड़ी रहती हैं? क्या पड़ोसी उन के ही साथ अन्याय करता आ रहा है?

धीरे-धीरे पता चल गया। बात सच निकली। उस पुरुष के अत्याचार की वस्तु सचमुच पत्नी ही थी। क्योंकि दुनिया में कौन कहाँ अकर्मण्य हो कर पड़ा है, यह चिन्ता किसी को भी नहीं करनी है। करनी है तो केवल इस 'महापुरुष' की पत्नी को; क्योंकि उस के साथ ही सप्तपदी की क्रिया पूर्ण की गई है, उस के सम्पूर्ण सुख-दुख और जीवन-मृत्यु का भार लिया है। इसी से चिन्ता कर के, बुराई का

प्रतिकार सोच कर, भारग्रहीता से दिन-रात अत्याचार का अधिकार पा सकी है।

सुन कर ब्रजकिशोर को चिन्ता हुई। चिन्ता इस लिये हुई कि एक आदमी का जीवन नष्ट हो रहा था और जीवन का मूल्य उसे मालूम हो गया था। तो भी यह नई बात थी।

इतने दिनों से वीतराग की तरह, विश्व से निरपेक्ष हो कर वह चुप पड़ा था। न कभी किसी ओर से उस के लिये पुकार उठी, न उस ने कभी चीत्कार किया। इस मकान में रहते भी साल पूरा होने को आया; वह किसी को जानता तक नहीं। अब अचानक उन के लिये वह जो आकुल-व्याकुल हो उठा है, यह उस के लिये नई बात है।

वे ब्रजकिशोर को नहीं जानती हैं। उन्होंने ब्रजकिशोर के आगे करुणा-विनती भी नहीं की है। केवल जब-तब दरवाज़े पर किवाड़ों की आड़ से, आधे खुले घूँघट से, आर्द्र नयनों से, उसे हौले से निहार भर लिया है। क्या इस तरह उन्होंने इस अभागे, तिरस्कृत युवक के अछूते चरणों में अपना दुख-दर्द फेंका है? इसी तरह 'मूक प्रार्थना' कर गई हैं क्या?...

दोपहरिया चढ़ आई थी। ब्रजकिशोर पास के लेटरबक्स में चिट्ठी छोड़ कर लौटा आ रहा था। देखा, दरवाज़े के पास हाथ मे बाल्टी लटकाये वे छिपी खड़ी हैं। झिझक कर सामने से निकल आया। पर उस से रहा नहीं गया। छत की रेलिङ्ग से बार-बार आधे घंटे तक उसी पानी से ख़ाली बाल्टी को देख ले कर आख़िर वह साहस कर के नीचे उतर आया। किवाड़ों के पास आ कर कहा—"लाइये, मैं भर दूँ।"

उन्होंने मुँह से कुछ नहीं कहा, हौले से बाल्टी तनिक आगे कर दी और खड़ी रहीं।

ब्रजकिशोर कुँये से बाल्टी भर लाया और जहाँ से उठाई थी वहीं रख दी।

यह मानो भूमिका थी। फिर शाम को लालटेन में इसी तरह तेल पड़ा...

दूसरे दिन जब वह काम पर से लौटा तो उन्हें प्रतीक्षा करते पाया। कपड़े उतार कर दौड़ा आया। घूँघट में से, बहुत धीरे से बोलीं—"यह कान की 'बाली' है—" और कागज़ की छोटी-सी पुड़िया आगे आई। ब्रजकिशोर ने पुड़िया खोल कर देख ली।

बहुत धीरे से बोलीं—"कोई सुनार ले लेगा।"

ब्रजकिशोर ने झेंप तोड़ कर कहा—"इसे बेंचना है?"

"हाँ।"

"क्या बेंचना ज़रूरी है?"

"हाँ," बहुत धीरे से बोलीं—"घर में अनाज नहीं है।"

"इसे अपने पास रखिये।"—ब्रजकिशोर ने कहा और उन की बात निकलने के पूर्व ही वह चला आया।...

दो घंटे बाद बाज़ार से खाद्य-सामग्री लिवा ला कर लौटा। किवाड़ बन्द थे। साँकल खटखटाई तब भीतर की साँकल खुल गई। ब्रजकिशोर पहिली बार उस घर में घुसा। पीछे-पीछे मज़दूर आया।

बरामदे में एक किनारे से दाल-चावल को उँड़ेल कर मज़दूर ने आटेवाली गाँठ खोली, बोला—"किस में धरूँ?"

तब हौले से पात्र चौखट के इस पार आ धरा। मज़दूरी ले कर वह चला तो पीछे-पीछे ब्रजकिशोर भी बढ़ा।

बहुत धीरे से, पीछे से पुकार आई;—"सुनिये!"

ब्रजकिशोर ठिठका। लाज से मरी-सी करुणा मूर्त्ति सामने आई। मुख पर घूँघट न था, मात्र लज्जा थी। आकर्षण न था, मात्र ममता थी। वही पुड़िया अभी हाथ में थी; कागज़ सिमिट-सिकुड़ कर और भी छोटा हो गया था। किसी तरह बोलीं—"इसे लेते जाइये।"

ब्रजकिशोर ने सरलता से कहा—"क्यों, अब इस का क्या होगा?"

बोलीं—"अपने पास रख लीजिये।"

"नहीं, आप उसे पहिन लीजिये। मेरे पास क्यों रख रही हैं?"

सिर डाले बोलीं—"ले लीजिये।"

"नहीं।"

तब एक बार—पहिली बार ब्रजकिशोर के मुख की ओर वे आँखें उठीं। वह दृष्टि बहुत कातर थी।

ब्रजकिशोर ने दृढ़ स्वर में कहा—"देखिये, मैं आप के पास ही रहता हूँ। कोई भी जरूरत पड़े तो मुझ से कहिये। अगर आप मुझ से न कहेंगी तो मुझे बहुत दुख होगा।"

जाने कब चुपके से उन आँखों में गंगा भर आई थीं। अब धीरे-धीरे दो धारायें बहीं।

देख कर ब्रजकिशोर विह्वल हो उठा, कहा कि—मैं जाता हूँ जरूरत पड़े तो हाज़िर होऊँगा और उन धाराओं को बिन देखे लौट चला।

... ...

पर किसी भी दिन फिर और सहायता का आह्वान नहीं पाया। क्या बात हुई है? क्या ब्रजकिशोर से कोई ग़लती हो गई है?

...प्रतिमा के घर 'समर्पित पुस्तक' गई है। जाने वहाँ क्या हुआ होगा? पहिले रसीद पर उस ने काँपते हाथों से अपना नाम लिखा होगा। फिर किताब का पैकेट खोला होगा। जिस पैकेट को ब्रजकिशोर ने अपने हाथों से बाँधा था, उसी पैकेट को प्रतिमा ने अपने हाथों से तोड़ा होगा। फिर किताब सामने हुई होगी; लेखक का नाम पढ़ा होगा। फिर सब काम छोड़ कर सुध-बुध खो कर, उसी समय, उसी जगह किताब का एक-एक पेज लौटा होगा। तीसरे पेज पर ही वह 'समर्पण पत्र' है। दूसरे के बाद जब वह तीसरा पेज खुला होगा—उस का नाम इतना गाढ़ा, इतना साफ़ लिखा हुआ है—तब फिर और आगे हाथ नहीं चले होंगे। शायद बहुत देर तक उन अक्षरों को देखती रही होगी—बहुत देर तक!

तब फिर?—

रोई होगी। जाने क्या-क्या याद आया होगा! जाने कितनी रोई होगी!

इतने दिनों के बाद, इस तरह, इस रूप से, मानो प्रतिमा के साथ ब्रजकिशोर का साक्षात्कार हुआ है। वह पुस्तक जड़ नहीं है, वह ब्रजकिशोर का भग्न हृदय है। उन टुकड़ों के छूने भर से 'ध्वनि' निकलती है। वह 'रागिनी' और कोई चाहे न समझ पाये, प्रतिमा जान पायेगी; वह तो उसी की निकाली 'मूर्च्छना' है, वह कैसे न जानेगी!

तब फिर?—

रोई होगी। जाने क्या-क्या याद आया होगा! जाने कितनी रोई होगी!

जब पुस्तक का पेज-पेज, अक्षर-अक्षर उस का नाम ले कर पुकारेगा—जब उस भग्न-हृदय के खँड़हर से 'प्रतिमा-प्रतिमा!' का क्रन्दन बजेगा—तब क्या प्रतिमा में इतना बल रहेगा कि वह ब्रजकिशोर के लिये तनिक निरीह और निरपेक्ष बनी रहे? असम्भव है।

अभी 'रसीद' लौट कर नहीं आई है; अब आती ही होगी। हाय, जीवन का सम्पूर्ण तत्व अब इतना ही रह गया है! कागज़ के ऊपर प्रतिमा के हाथ के अक्षर देख ले कर ही ब्रजकिशोर 'सन्तुष्टि' पा लेगा; आगे की बात नहीं है—और आगे बिलकुल कुछ नहीं है।...

पड़ोसी के हाल-चाल का कुछ भी पता नहीं चलता। उस के जीवन-यापन का क्या तरीक़ा है, यह भी नहीं मालूम। पर अब जान पड़ता है, स्थिति कुछ सुधर गई है। अब शायद 'उन्हें' परेशान नहीं करता है। इसी से शायद और सहायता की पुकार नहीं आई है।...

उस दिन ख़ूब चिलचिलाती धूप निकली थी। ऊपर छत पर कपड़े सूखने को डाल दिये थे। अब एक बार उन्हें लौटने आया था। अचानक जाने क्या ख़्याल आया; धीरे-धीरे छिपे-छिपे ईंटों की जाली में से 'उन' के आँगन को झाँकने लगा।

अरे, यह क्या!

देखा, आँगन में उसी चिलचिलाती धूप में वे लुढ़की पड़ी हैं, आँखें बन्द हैं, मुँह सुर्ख़ हो गया है पसीने की धारें चल रही हैं! क्या हुआ है इन्हें?

तड़ित्वेग से ज़ीना पार कर के नीचे दरवाज़े पर पहुँचा। दरवाज़ा बन्द है, बाहर दो सेर का लोहे का ताला पड़ा है।

एक किनारे से पाख़ाने के पास दीवाल तनिक नीची थी। ब्रजकिशोर बिल्ली की तरह उसी दीवाल को पकड़ कर चढ़ गया और भीतर आँगन में कूद गया।

पहिली बार उन के शरीर का स्पर्श कर के पुकारा—"भाभी, भाभी!"

भाभी को तनिक भी होश न था। तब ब्रजकिशोर ने उन्हें बाहों में भर कर उठा लिया और भीतर बरामदे में खाट पर ला सुलाया। भाभी को तब भी होश नहीं था।

दस बारह मिनिट तक पंखा झल कर और बार-बार मुँह पर पानी के छींटे दे कर फिर एक बार उस पानी से भीगे, गौर-वर्ण, दर्पण से स्वच्छ मुख के ऊपर झुक कर पुकारा—"भाभी, भाभी!"

जान पड़ा भाभी ने वह आवाज़ सुन पाई है। हौले से तनिक पलक उघारे, हौले से कहा—"पानी।"

ब्रजकिशोर ने उठा कर पानी पिलाया। और फिर धीरे से लिटा कर पूछा—"क्या हो गया था आप को?"

बहुत लजा रही थीं। बहुत शरमा कर बोलीं—"ग़श आ गया था।" और हाथों का सहारा दे कर उठने लगीं। ब्रजकिशोर ने घबरा कर कहा—"अरे उठिये मत, लेटी रहिये!" और वह फिर पंखा उठा कर हवा करने लगा।

भाभी ने हाथ बढ़ा कर पंखा माँगा—"मुझे दे दो।"

"नहीं, आप लेटी रहिये।"

शरम से मरी जा रही थीं। पलक झुकाये-झुकाये फिर पंखा माँगा, फिर उस ने मना कर दिया।

उठ कर बैठ गईं। ब्रजकिशोर मना करता रहा। साड़ी का अंचल सँभाल के पंखा ले लिया और धीरे-धीरे उसे घुमाने लगीं।

ब्रजकिशोर ने कहा—"बाहर ताला पड़ा है। भाईसाहब कहीं गये हैं क्या ?"

कोई जवाब नहीं मिला।

चूल्हा साफ़ पड़ा था। पूछा—"क्या खाया था आज आप ने ?"

कोई जवाब नहीं मिला।

"दूध पीजिये अब, मैं अभी लिये आता हूँ।"

बोलीं—"नहीं, मैं दूध नहीं पिऊँगी।"

"क्यों ?"

चुप हो गईं।

ब्रजकिशोर दीवाल पर चढ़ गया।

भाभी ने धीरे से कहा—"दूध मत लाना।" ब्रजकिशोर अनसुना कर के उधर उतर गया और घड़ी पीछे लौट आ कर दीवाल पर मुँह उठा कर पुकारा—"भाभी !"

भाभी तब खाट छोड़ कर, चौखट के पास टाट के टुकड़े पर जा बैठी थीं; जाने क्या सिर डाले सोच रही थीं।

"भाभी, लो !"

तब हार कर भाभी अलस-मन्थर गति से उठ कर आईं।

"लो !"

तब अंचल सँभाल कर दूध का बरतन पकड़ लिया। और वहीं, ज़मीन पर आँखें लगा कर धीरे-धीरे गीले स्वर में कहने लगीं—"तुम मेरे पीछे क्यों इतना दुख उठाते हो; ऐसे कहाँ तक मेरी रक्षा करोगे !" और आँखें भर लाईं। ब्रजकिशोर ने केवल कहा—"मैं जाता हूँ। शाम को फिर आऊँगा।"

... ...

मनुष्य से बढ़ कर ईश्वर की सृष्टि में और कुछ भी आश्चर्य-जनक नहीं है। उस की भावनायें जैसे बनती-बिगड़ती और उठती-गिरती हैं

वैसी विचित्रता से सृष्टि का कोई भी कार्य नहीं होता। सब के लिये नियम और शृंखला है, पर जान पड़ता है, मानव हृदय के लिये इस की छूट दे दी गई है।

पड़ोसी राधाकृष्ण क्या समझ कर इन 'भाभी' का तिरस्कार और अवहेलना करता है, क्या अपराध समझ कर इतनी यन्त्रणा और दारुण दण्ड देता है, कोई नहीं बतला सकता। न कोई 'भाभी' के हृदय की बात जानता है।

इतने अपमान और उपहास सह कर, तन का सारा रक्त सुखा कर जो ब्रजकिशोर ने अहर्निशि प्रतिमा की आराधना की थी, वह भी दुर्ज्ञेय है; प्रतिमा ने उस की प्रतारणा की, वह भी दुर्बोध्य है। असंख्य दिनों के बाद अब ब्रजकिशोर ने 'पूर्णाहुति' की तरह 'समर्पित पुस्तक' उन अदृश्य चरणों में फेंक दी है; उस ने क्या सोचा है? प्रतिमा के आगे पुस्तक खुलेगी; धूल में खोये उस इतिहास को, पानी में डूबा देखेगी; वह क्या सोचेगी? यह भी कोई नहीं जानता है।...

सूरज डूबने पर जब ब्रजकिशोर मुहल्ले की गली पार कर के यहाँ तक आया तो देखा कि पड़ोस के दरवाज़े का ताला खुल गया है और भीतर रोशनी हो रही है।

फिर भाभी के पास जाने की बात नहीं रही। पर रात को जब बार-बार करवट बदलने पर भी आँखों में नींद नहीं उतरी तो ब्रजकिशोर ने फिर आँखें खोल ही लीं। कोनेवाले बिजली-के लट्टू का प्रकाश उस के कमरे में एक किनारी से आता है। वहाँ, उतनी जगह में रात भर रेलिङ्ग के बेल-बूटों की प्रतिच्छवि अंकित रहती है। उसी के ऊपर आँखें रोक कर ब्रजकिशोर सोचने लगा—

जो कहीं थोड़ा भी 'उन' के दुख को दूर कर सका तो जी में चैन पड़ेगा। पर किस तरह मैं उन को सुख दे पाऊँगा? वे जो पर-स्त्री हैं, युवती हैं, सुन्दरी हैं। यदि कभी मुहल्लेवालों ने कुछ सन्देह-दृष्टि की या कभी राधाकृष्ण ने मुझे अपने घर में देखा तो फिर इस का क्या फल होगा? और भी उस ने बहुत सोचा; पर सोच कर यही निश्चय

किया कि जो कुछ भी हो, ब्रजकिशोर को उन की चिन्तना तो जरूर करनी है। यहाँ रह कर, उन का कष्ट देख पा कर, नयन मूँद कर तो नहीं सो सकता।...

'रसीद' लौट कर आई है। नीचे प्रतिमा ने हस्ताक्षर किया है; कोने में तारीख़ दी है। अक्षर बहुत शीघ्रता में, बहुत साधारण लिखे गये हैं।

प्रतिमा ही ने लिखा है न! ब्रजकिशोर निर्निमेष दृष्टि से—एकाग्र-भाव से उन अक्षरों को देख रहा है।

उन अक्षरों के पीछे से करुणा, व्यथा, ममता, सब झाँक रही हैं—ब्रजकिशोर को लग रहा है।

इस रसीद को प्रतिमा ने छुआ है। अपने हाथों में ले कर लिखा है। बहुत देर तक उस के पास रही है। अब उसी रसीद को ब्रज-किशोर छू रहा है। इस रसीद में प्रतिमा का स्पर्श है न!

ब्रजकिशोर ने रसीद कलेजे से लगा ली। हाँ, रसीद के स्पर्श में उष्णता है, जैसी जीवित व्यक्ति में होती है, कितना कोमलता-पूर्ण स्पर्श है! ब्रजकिशोर अनुभव करके पलक मूँद कर रसीद को कलेजे से सटाये बैठा रहा।

फिर उस दिन वह सुख में डूब कर और कुछ भी न कर सका। रसीद को जेब में रख कर अर्ध-विक्षिप्त की तरह इधर-उधर घूमता फिरा।

देखा तो भाभी बाट जोह रही थीं। आज उन ओठों पर मुसकान की रेखा देखने को मिली। स्नेहार्द्र स्वर से बोलीं—"बहुत देर से तुम्हारा इन्तज़ार कर रही थी।"

"क्यों, कोई ज़रूरी काम था?"

सकुचा कर बोलीं—"ज़रूरी काम कुछ नहीं था; आज खाना यहीं खइयो।"

ब्रजकिशोर ने हँस कर कहा—"अच्छी बात है। भाईसाहब कहीं गये हैं क्या?

"हाँ, दिल्ली गये हैं।"

ब्रजकिशोर ने सोचकर कहा—"तो मैं बाज़ार से सामान तो ला दूँ; क्या-क्या चाहिये ?"

शरमा कर बोलीं—"सामान मैंने मँगवा लिया है।"

"किस से ?"

"गिरीश से मँगवा लिया; मास्टरजी का लड़का है।"

ब्रजकिशोर ने हँस कर कहा—"तो फिर मैं कितने बजे आ जाऊँ ?"

.खुशी दाब कर बोलीं—"एक घंटा लगेगा अभी।"

इस दावत ने सब संकोच और 'परायापन' तोड़ दिया। खाना खा कर बहुत रात तक बातें होती रहीं। अन्त में ब्रजकिशोर ने यह भी कह दिया कि—एक लड़की थी भाभी, उस का नाम प्रतिमा था—

भाभी सुन कर बहुत-बहुत प्रसन्न हुईं और मुसकरा कर पूछने लगीं कि—कब से फिर भेंट हुई है।

कहा कि—अरे, भला अब उस से भेंट किस तरह होगी।

तो कहा कि—चिट्ठी-पत्री तो आती है !

ब्रजकिशोर ने कहा—"इतने दिनों बाद आज उस के हाथ का लिखा देखने को मिला है।"

भाभी ने कहा—"देखें ! कहाँ है ?"

"यह रही !"

भाभी ने 'रसीद' ले कर लालटेन के आगे ले जा कर .खूब ग़ौर से देखा। मुसकरा कर बोलीं—"बड़ा सुन्दर लिख लेती है, कैसे मोती से अक्षर बने हैं !"

ब्रजकिशोर चुप रहा।

भाभी ने रसीद लौटा कर कहा—"तो अब उस की चिट्ठी भी ज़रूर आयेगी।"

"ना, चिट्ठी नहीं आ सकती।"

"क्यों ?"

"देख लेना तुम। चिट्ठी हरगिज़ नहीं आयेगी।"

"वाह, उस से इतना भी न होगा ! अब तक तो उसे तुम्हारा पता-

ठिकाना मालूम नहीं था; अब सब बातें जान ले कर कैसे चुप्पी साध पायेगी ?"

ब्रजकिशोर चुप हो गया।

भाभी ने बात पलट कर कहा—"तुम्हारा पेट जाने भरा भी होगा या नहीं; कुछ भी अच्छी तरकारी नहीं लाया गिरीश, तिस पर हमारी जैसी बनानेवाली ! तुम भूखे तो नहीं रह गये !"

ब्रजकिशोर ने कहा—"भाभी, जो तुम्हारे हाथ का ऐसा खाना पाऊँ तो महीने भर में तनदुरुस्त हो जाऊँ !"

"क्या करूँ ?"—भाभी ने दुखी हो कर कहा—"मेरा वश चले तो तुम्हें दस बार पका कर खिलाऊँ। परमात्मा ने इतना भी न दिया कि किसी की तनिक सेवा-सत्कार कर पाऊँ, तनिक किसी का एहसान उतार पाऊँ !"

ब्रजकिशोर ने हँस कर कहा—"तो क्या भाभी, तुम ने आज मेरा हिसाब पूरा कर दिया ?"

भाभी को हँसी न आई, कातर हो कर बोलीं—"मैं इस ज़िन्दगी में अब क्या करके तुम्हारा बदला चुका पाऊँगी ब्रज बाबू ? जिस का कोई नहीं है, जिस पर किसी की मेहर नहीं हुई, उस पर तुमने दया बरसाई है। अब वह इस जन्म में तुम से उरिन नहीं हो पायेगी।"

ब्रजकिशोर ने कहा—"देखो भाभी, मैं तुम से सिर्फ एक बात कहता हूँ; तुम दुखी हो, दुनिया जाने चाहे न जाने मैं जानता हूँ कि तुम्हारी ज़िन्दगी कैसे कष्ट में उतर गई है। और यह भी जानता हूँ कि मैं इतना 'समर्थ' नहीं हूँ कि तुम्हारा दुख दूर कर पाऊँ। अब इतना ही है कि जितना-जैसे कर पाऊँ, करूँ। लेकिन वह सब मेरी तुच्छ सेवा होगी; उसे एहसान करके मानना बेवकूफी है। और भाभी, अब आज मैं तुम से यह भी कहे देता हूँ कि मैं चाहे तुम्हारे साथ कुछ न भी कर पाऊँ, पर तुम मेरे ऊपर से 'अपनापन' मत हटाना। इतनी दया मेरे ऊपर हमेशा करती रहना भाभी, मैं तुम्हारे निकट आश्रय की भीख माँग रहा हूँ; 'तुम्हारा' होना चाहता हूँ।"

भाभी की आँखों से 'टप् टप्' आँसू गिर रहे थे।

गद्गद कण्ठ से बोलीं—"तुम्हें अपना न मानूँगी तो और कौन रह गया! अकारण मेरे लिये इतना करते हो, अभागिनी के लिये तुम्हारे दिल में करुणा उपजी है, मेरे भगवान् हो तुम—" कहते-कहते गला भर आया।

ब्रजकिशोर भी रोने-रोने को हो गया।

जब भाभी ने स्वस्थ हो कर अंचल से आँखें पोंछ लीं तो उठ खड़ा हुआ, बोला—"बहुत रात हो गई, जा रहा हूँ अब। नमस्ते भाभी!"

भाभी ने मुँह न खोला, केवल उस की ओर अपने साड़ी में लिपटे हाथ उठा दिये।

... ...

इसके तीसरे दिन प्रतिमा की चिट्ठी मिली। पोस्टकार्ड पर हरी स्याही से यह चिट्ठी लिखी गई थी, खूब घने और घसीट अक्षरों में। आगे-पीछे कहीं भी तनिक जगह नहीं छूटी थी, यहाँ तक कि जहाँ लाइनों के बीच स्पेस बचा था वहाँ भी उलट कर लिख दिया था। सभ्यता और शिष्टाचारपूर्वक, जिस तरह पत्र लिखने की परिपाटी है, यों प्रारम्भ किया था:—

श्रीयुत ब्रजकिशोर जी,

सादर नमस्ते...

पर इस से आगे की पंक्ति यों चली थी:—

'आप अपनी हरकतों से बाज नहीं आते! आप ने फिर कुचेष्टा की है। अब आप के ऊपर अदालती कार्य-वाही की जायगी और पत्रों में आप की धूर्त्तता की बात प्रकाशित की जायगी...'

इस के बाद फिर असभ्यों की भाषा में गालियाँ और कुवाक्य उतर आये थे।

और इस प्रकार ब्रजकिशोर का कुल स्वप्न पूरा उतर गया।...

इधर कई दिन से भाभी नहीं दीख पड़ीं। कभी सामने हुई भी

हों चाहें, ब्रजकिशोर ने नहीं देखा। वह आजकल कुछ भी नहीं देख पा रहा है, न कुछ सोच-समझ पा रहा है। मस्तिष्क की विचारणा-शक्ति जैसे लुप्त हो गई है। क्या ठीक है और क्या ग़लत है, कौन अपना है और कौन पराया है; क्या पाप है और क्या पुण्य है; जीवन क्या है; मनुष्य क्या है, नारी क्या है; ऐसे किसी भी प्रश्न पर बुद्धि नहीं पैठती।

मशीन की तरह ब्रजकिशोर हो गया है कि जिस में केवल अपना दैनिक काम करने की शक्ति रहती है—कि जिस के 'हृदय' नहीं होता कि जिसे कुछ 'बोधन' नहीं होता।

अचानक भाभी ने वह तन्द्रा तोड़ दी। उद्भ्रान्त हो कर, सिर उठाये चला जा रहा था कि पीछे से, किवाड़ों की आड़ से, आधे घूँघट से ममताभरी पुकार आई—"ब्रज बाबू!"

ब्रजकिशोर चौंक कर लपका।

"भाभी!"

"हाँ।"—भाभी ने और भीतर को हो कर हौले से कहा—"कहीं चले गये थे क्या? कई दिन से दिखाई नहीं पड़े।"

"नहीं, था तो यहीं।"

भाभी ने और पीछे को हट कर कहा—"आओ न! भीतर आ जाओ।"

ब्रजकिशोर ने उधर हो कर किवाड़ फेर लिये।

तब भाभी बोलीं—"अच्छा, चिट्ठी आई क्या?"

"किस की चिट्ठी?"

भाभी ने तनिक मुसकरा कर कहा—"उन्हीं की!"

"प्रतिमा की?"

"हाँ!"—भाभी ने मुसकरा कर कहा।

"नहीं आई।"

"सच?"

"सच कहता हूँ।"

"मुझे यक़ीन नहीं होता, तुम झूठ कह रहे हो !"

ब्रजकिशोर हँसने लगा।

भाभी ने कहा—"हम नहीं मानते; चिट्ठी तुम्हारे पास उस ने ज़रूर डाली है।"

"नहीं।"

"अच्छा, खाओ मेरी किसम !"

"किसम क्या खायें !"

"तब तुम्हें चिट्ठी ज़रूर मिली है !"—भाभी ने हँस कर कहा—"सो हम तुम से छीन थोड़े ही लेंगे; हम तो बस इतना ही चाहते थे कि चिट्ठी उन की आ जाय, तुम्हें ज़रा बहाली मिले। सो परमात्मा ने कर ही दिया।"

ब्रजकिशोर आसमान की ओर मुँह करके धीरे-धीरे मुसकराने लगा और भाभी मुसकराती-मुसकराती भीतर गईं। लौटीं तो एक कटोरी हाथ में थी, बरामदे में से कहा—"लो, इधर को आ जाओ।"

पीढ़ा पड़ा था, ब्रजकिशोर आ कर बैठ गया। कटोरी सामने आई। ब्रजकिशोर ने पूछा—"क्या है ?"

भाभी ने हँस कर कहा—"प्रसाद है मथुराजी का !"

"भाई साहब लाये हैं ?"

"हाँ।"

ब्रजकिशोर कटोरी ले कर खाने लगा।

भाभी ने पीतल के गिलास में पानी सामने ला धरा और भीतर एक बार और जा कर लौट आईं।

ब्रजकिशोर पानी पी कर उठने लगा तो बोलीं—"बाज़ार जाओगे आज ?"

"क्यों, कुछ काम था ?"

सकुचा कर बोलीं—"मुझे थोड़ा कपड़ा मँगाना था।"

"कैसा कपड़ा चाहिये ?"

तो चुपके से हाथ में छिपी कपड़े की कत्तल सामने रख दी; कहने लगीं—"इस में का चाहिये। एक गज़ तो रक्खा है, एक गज़ और मिल जाय तो कमीज़ को पूरा हो जायगा।"

ब्रजकिशोर ने कत्तल उठा ली, पूछा—"क्या दरज़ी के लिये सिलाने दोगी?"

"मैं सीं लूँगी अपने आप।" और यह कह कर एक रुपिया, जो दूसरी मुट्ठी में छिपाये थीं, आगे कर के कहा—"लो।"

"क्या है?"

शरमा कर कहा—"दाम, कपड़े के लिये।"

हँस कर ब्रजकिशोर ने कहा—"अच्छा!" और वह चलने लगा।

"लिये जाओ ब्रजबाबू, अरे, हमारी बात तो सुनो!"

ब्रजकिशोर सड़ाक् से निकल गया।

... ...

कमरे में आ कर खड़ा-खड़ा आलमारी में उलटी-सीधी पड़ी किताबों को ठीक करने लगा। जाने किधर से वह प्रतिमावाली चिट्ठी आँखों के सामने आ गई। किताबें संभाल कर ब्रजकिशोर अपने बिस्तर पर जा बैठा। चिट्ठी खोल ली और पढ़ने लगा।

यही उस के सम्पूर्ण अध्यवसाय का पुरस्कार है! ब्रजकिशोर ने अत्यन्त क्षुब्ध हो कर चिट्ठी फिर उसी लिफ़ाफे में ठूँस दी और उसे आलमारी के पीछे फेंक कर छाती दबा कर पड़ रहा।

उसे स्त्री-मात्र घृणित लगने लगी। ओह, क्या ठिकाना है! बड़ी से बड़ी निर्दयता ये कर सकती हैं; इन की सुकुमारता, इन की कोमलता सब झूठी है। स्त्री बर्बरता का साक्षात् प्रतिमूर्ति है। नीतिकारों ने सत्य ही लिखा है—विषकुम्भं पयोमुखम्!

भाभी ने कपड़ा मँगाया है—ब्रजकिशोर ने भीतर ही भीतर ग्लानि करके जेब से वह कत्तल निकाल कर फेंक दी और कहने लगा—वे भी नारी हैं, वे भी घृणा के योग्य हैं; नारी सदा अश्रद्धेय है।

छोकरा जो रोटी पकाता था, उसे बुला कर कहा—"देखो, वह

कपड़े का नमूना पड़ा है, यह लो रुपिया, इसी तरह का एक गज कपड़ा ले आओ। जाओ, जल्दी दौड़ कर जाओ।"

छोकरा बाज़ार चला गया। अब तक ब्रजकिशोर के भीतर का 'मानव' तनिक शान्त हो चुका था, वह चुपके से कहने लगा—अरे, भाभी को भी तुम ने विश्वास का पात्र न रक्खा!

ब्रजकिशोर ने मानो अपने से झगड़ कर कहा—हाँ, वे भी अविश्वसनीय हैं; क्योंकि वे नारी हैं और नारी कभी भी सत्य नहीं है, अपने रूप-यौवन की तरह अस्थिर है, नारी जातिमात्र अस्थिर है, जो अस्थिर है वह कैसे विश्वास का पात्र बनेगी?

मानव ने कहा—लेकिन भाभी?

ब्रजकिशोर के आवेश ने कहा—जब प्रतिमा से साक्षात्कार हुआ था, जब उस से प्रथम परिचय हुआ था, तब की याद है? उन भाव-भंगिमाओं को याद करो, उन मुसकानों को याद करो, उन रंजित दृष्टियों को याद करो!

जो भाभी आज तुम्हें ऐसी लगती हैं, कभी उन का भी यह रूप बदल जा सकता है।

मानव ने कहा—मेरी बात सुनो! प्रतिमा के लिये तुम्हारे हृदय में मोह था—प्रेम था—पिपासा थी—प्राप्ति की आकांक्षा थी; इसी लिये इतना 'बुरा' लगा। पर इन भाभी के लिये तुम्हारे दिल में क्या है! क्या इन के रूप की प्यास है तुम्हें, इन से कुछ प्राप्ति की चाह है कि इन से तुम्हें आसक्ति है?

ब्रजकिशोर के आवेश ने शिथिल हो कर कहा—मैं तो केवल उन्हें 'दयनीय' जानता हूँ। वे दुखी हैं; दुखी की सहायता करना मेरा धर्म है, बस।

मानव ने कहा—तो फिर सोच काहे का? वे चाहे अपना यही रूप रक्खें, चाहे बदल जाँय तुम से इस बात से मतलब ही क्या है? तुम्हारी वे कौन हैं? तुम्हें उन से क्या पाना है?

आवेश ने सो कर कहा—हाँ, यह बात ठीक है।

इसी समय छोकरा कपड़ा ले कर लौट आया। ब्रजकिशोर ने कपड़ा मिला कर देखा और कह दिया—"जाओ पड़ोसवाली को दे आओ।"

... ...

एक बार मन में बहुत हलका भाव यह आया था कि भाभी ने इस बात को महसूस तो नहीं किया कि नौकर के हाथ कपड़ा भिजवाया?

भाभी ने महसूस किया या नहीं, पता नहीं, इतना हो गया कि उस दिन से जो कोई छोटी-मोटी ज़रूरत पड़ी तो ब्रजकिशोर को दुख न दे कर, उसी छोकरे को बुला ले कर काम चला लिया।

देख कर ब्रजकिशोर ने कहा—"चलो, अच्छा ही है। संघर्ष ही कष्ट की जड़ है।"

परन्तु बहुत दिनों तक और आगे को यह बात चल नहीं सकी।

छोकरा अपने आप 'भन्न फन्न' हो कर कुछ बड़बड़ा रहा था। सुन पा कर ब्रजकिशोर ने कहा—"क्या है रे सालिग?"

'जी?"

"क्या हुआ! किस पर नाराज़ हो रहा है?"

"वे साहब, वे नीचेवाली, वे हमें बहुत परेशान किये रहती हैं!"

"क्या हुआ?"

"रोज़ कुछ न कुछ हम से बिकवाती हैं, रोज़ उसी का फिर आटा-दाल मँगवाती हैं। आज कहा है कि भूसी बेंच आओ कहीं। मना करते हैं तो ख़ुशामद कर लेती हैं, बड़ी चालाक हैं! अब भूसी हम कहाँ बेचने जाँय, इस मुहल्ले में तो कोई लेता नहीं। नहीं बिकेगी तो फिर आटा कहाँ से आयेगा, रोटी कैसे बनेगी!"

ब्रजकिशोर लेट कर किताब पढ़ रहा था, चौंक कर उठ बैठा, कहा—"तू ने मुझ से क्यों नहीं कहा?"

"क्या?"

"तू ने मुझे कभी नहीं बतलाया कि उन के घर में आटा-दाल नहीं है।"

छोकरे ने चकितभाव से कहा—"आप से कहने की बात थी यह? आप से हम क्यों कहते?"

ब्रजकिशोर ने खड़े हो कर कहा–"बेवकूफ!" और वह चंचल गति से नीचे उतर गया।...

तब भाभी सचमुच एक पुरानी फटी धोती के ऊपर भूसी-चोकर जमा कर रही थीं कि कुछ बोझ तो हो जाय ; तीन-चार पैसे की ढाई सेर बिकती है। कि पुकार बिना दिये फटाक् से किवाड़ें खोल कर ब्रजकिशोर यहाँ भीतर आ खड़ा हुआ। उस ढेरी को देख कर, दुखित भाव से कहा--"क्या कर रही हो भाभी ?"

"कुछ नहीं !"–भाभी ने कहा । और जल्दी-जल्दी भूसी समेट कर भीतर से पीढ़ा ला कर उस के आगे रक्खा, बोलीं--"बैठो।"

ब्रजकिशोर ने उन्हें रोक कर कहा—"भाभी मैं तो तुम्हें ऐसा नहीं समझता था !"

भाभी बड़ी अचम्भित हुईं, घबरा कर पूछा--"कैसा ? क्या बात हुई ब्रज बाबू ?"

"उस दिन जो मैंने तुम से कहा था कि कोई कष्ट हो, कोई ज़रूरत हो तो फ़ौरन बतला देना, सो तुम ने मुझ से कहा ?"

भाभी आशय समझ कर मुसकराने लगीं।

ब्रजकिशोर ने दुख मना कर कहा--"तब फिर तुम क्यों उस दिन झूठ बोली थीं कि तुम्हें पराया नहीं समझती हूँ ?"

"मैं तुम्हें पराया समझती हूँ !"

"और क्या ! अपना अगर समझतीं तो मुझे अपने दुख-दर्द भी ज़रूर बतातीं। तुम मुझ से अलगाव रखती हो।"

"कैसी बातें करते हो ब्रज बाबू !"—भाभी ने विथाभरी टोन में कहा–"मैं तुम से अलगाव रक्खूँगी ! काहे को मैं अलगाव रक्खूँगी ? तुम से अलगाव करके कौन सुख पा लूँगी–कौन फ़ायदा होगा मेरा?"

"यह तो तुम्हीं जानो। मैं तो इतना ही जानता हूँ कि तुम्हारे दिल में मेरे लिये 'अपनापन' नहीं है।"

"तुम्हें यक़ीन हो गया है ?"—कहते-कहते भाभी की आँखें भर आईं, आवाज़ काँप गई।

देख कर ब्रजकिशोर ने धीरे से कहा—"यक़ीन नहीं है तो अब हो जायगा। तुम अगर इसी तरह मुझ से लुकी-छिपी रह कर दुख उठाती रहोगी तो मैं कैसे विश्वास करूँगा कि मैं तुम्हारा अपना हूँ ?"

आँखों से 'टप-टप' कर के तीन-चार आँसू नीचे आ गिरे तो भाभी ने एक ओर को मुँह फेर लिया।

ब्रजकिशोर ने शान्तभाव से कहा—"कितनी बार मैं तुम से कह चुका हूँ कि कष्ट पड़े तो मुझ से कहो—मुझ से कहो। लेकिन तुम्हारी जाने क्या समझ है, मुझ से नहीं कहोगी, ख़ुद आफ़त उठाओगी, मुझे दुखी करोगी और कहोगी हरगिज़ नहीं !"

भाभी ने कुछ नहीं कहा। मुँह फेरे खड़ी रहीं और धीरे-धीरे अंचल के छोर से बार-बार आँखें पोंछती रहीं।

ब्रजकिशोर ने आगे बढ़ आ कर कहा—"मुझे तो आज फ़ुरसत नहीं है; जो कुछ मँगवाना हो सालिग से मँगा लेना; लो !"—कह कर वह भाभी को एक पाँच रुपये का नोट देने लगा। भाभी स्थिर रहीं।

ब्रजकिशोर ने कहा—"देखो भाभी, दो में से एक ही बात हो सकती है; या तो तुम मुझ से कोई राह-रस्म रक्खो ही मत, या फिर मुझ से खुल कर रहो। और अगर मेरा यहाँ आना-जाना अच्छा न लगता हो तो कहो मैं यह मुहल्ला छोड़ कर चला जाऊँ !"

रोते-रोते भाभी ने काँप कर कहा—"अब तुम ये ऐसी बातें कह के मुझे सुख दे रहे हो !..."

"अच्छी बात है, अब नहीं कहूँगा। तो फिर इसे लो !"

भाभी ने हार कर हाथ बढ़ा दिया। ब्रजकिशोर जाते-जाते कह गया—"मैं सालिग को अभी भेजे देता हूँ।"

... ...

आलू की पकौड़ी, तेल में भुनी, मीठे दही से ब्रजकिशोर खा रहा था। भाभी बना रही थीं। आख़िरी घान उतार कर कढ़ाई ठंडी कर दी और बरतन में बचा हुआ तेल पोंछ कर कहने लगीं—"आज हम ने तुम्हारी किताब पूरी कर दी।"

"अच्छा ! कैसी लगी तुम्हें ?"

"बड़ी बुरी !"–भाभी ने मुँह बना कर कहा।

ब्रजकिशोर हँस पड़ा।

भाभी ने कहा—"अच्छा सच-सच बतलायें !"

"बतलाओ !"

"बहुत अच्छी लगी—बहुत अच्छी लगी। हम ने ऐसी किताब कभी नहीं पढ़ी। तुम जाने कैसे ऐसी बातें लिख लेते हो, बिलकुल सच्ची मालूम पड़ती हैं ! ऐसी दुख की बातें लिखी हैं कि मैं तो पढ़ना बन्द करके बीच में तीन-चार बार .खूब जी भर के रोई—गज़ब कर दिया है तुम ने !"

ब्रजकिशोर हँसता रहा।

भाभी ने बतलाया कि 'उन्होंने' भी यह किताब पढ़ी है, बहुत तारीफ़ करते थे तुम्हारी, कहते थे कि बड़े दिमाग़ का आदमी है।

पन्दरह-बीस दिन हुये, अचानक सिनेमा-हाल में राधाकृष्ण का ब्रजकिशोर से संग-साथ हो गया, तब से खुली जान-पहिचान हो गई थी। अब रोज़ सबेरे-शाम जब जब सामना होता, दोनों ओर से 'नमस्ते' हो जाती थी।

हँस कर भाभी ने कहा—"तुम्हें बहुत मानने लगे हैं। कहते थे कि मुझे उन से बात करते झेंप लगती है।"

ब्रजकिशोर ने बात पलट कर कहा–"उन्होंने भी किताब पढ़ी यह ?"

"हाँ, पहिले उन्हींने पढ़ी। अच्छा, मैं तुम से एक बात पूछूँ ?"

"पूछो !"

"वह आख़िरी कहानी सच्ची है कि झूठी ?"

"तुम्हारी क्या समझ में आया ?"

"मुझे तो सच्ची लगती है !"

ब्रजकिशोर ने तनिक गम्भीर हो कर कहा–"हाँ, 'सच्ची' ही है वह; तुम ने कैसे जाना ?"

"अरे वे ही तो सब बातें हैं उस में !"

ब्रजकिशोर चुप रहा।

भाभी ने कहा--"इसे जब तुम्हारी 'उन्ने' पढ़ा होगा तो बहुत रोई होंगी। हाय, कैसी-कैसी दर्द की बातें हैं उस में, कलेजा हिल जाता है। उन बेचारी को तो बहुत दुख दिया होगा इस कहानी ने!"

ब्रजकिशोर चुप ही रहा। पानी पी कर रूमाल से मुँह पोंछ कर अपने पैर की अँगुलियाँ चटकाता रहा।

भाभी दोनों हाथों के ऊपर मुँह रक्खे घड़ी भर सोच में बैठी रहीं, फिर धीरे से बोलीं—"ब्रज बाबू हमारा एक कहना मानोगे?"

"क्या?"

"तुम अपनी शादी कर लो अब।"

ब्रजकिशोर हँस दिया।

भाभी ने कहा—"देखो, जो होना था सो हो गया। न वे कभी तुम्हारा दुख भूल पायेंगी न तुम कभी उन्हें बिसार पाओगे; लेकिन जिन्दगी के लिये कुछ सहारा तो चाहिये। घर में बहू आ जायेगी तो तुम्हारा दुख ज़रूर थोड़ा घट जायेगा। तुम्हारी सेवा-पूजा करेगी; दुख-सुख पूछेगी, खाने पीने की फ़िक्र रक्खेगी। तुम शादी करके दुख नहीं पाओगे, दुख का इलाज हो जायगा।"

ब्रजकिशोर ने कहा—"अरे भाभी, हम से भला शादी करने को कौन तैय्यार होगा!"

"क्यों?"

"अरे, हम ग़रीब आदमी, ऐसा क्या है हमारे पास जो कोई रीझे?"

भाभी ने कहा—"जो तुम्हें देख कर नहीं रीझेगी वह क्या राजा-महाराजा पर रीझेगी कि किसी देवता पर रीझेगी! तुम्हारे जैसे हैं कितने? जो तुम्हारे चरणों में आश्रय पायेगी उस का बहुत बड़ा 'भाग्य बल' होगा।"

बात काट कर ब्रजकिशोर ने कहा-"चलो, सिनेमा देखने चलती हो?"

भाभी ने कहा—"चलो, लेकिन एक शर्त्त है!"

"क्या?"

"तुम्हें अपने पास सटा कर बिठाना होगा !"

"अच्छी बात है; इस में क्या है !"

"और यहाँ से मोटर में बैठ कर चलेंगे !"

"तब तुम्हें नहीं जाना है। चलो तो मैं ताँगा ले आऊँ।"

"ना, जाऊँगी तो मोटर में ही !"

ब्रजकिशोर हँसता हुआ चला गया।

... ...

न सुख है न दुख है, इस तरह ब्रजकिशोर रह रहा था; इसी तरह शायद भाभी भी रह रही थीं। कि अचानक शहर में ख़बर फैली कि हिन्दू-मुस्लिम दंगा होगा। फिर यह ख़बर प्रति दिन बढ़ने लगी। चारो ओर आतंक छाने लगा; सारे नागरिक आशंकित चित्त से प्रतीक्षा करने लगे।

होली और मुहर्रम इस बार एक साथ आ पड़े थे और यही दंगे की जड़ थी। होते-होते अन्त में दिन बिलकुल निकट आ गये; मुहर्रम पहिले पड़ते थे। हिन्दुओं ने कह दिया हम ताज़िया नहीं निकलने देंगे! मुसलमानों ने भय खाया, हिन्दू नेताओं से जा कर फ़रियाद की, शहर में सब जगह परचे बँटवाये कि हम तो तुम्हारे ग़ुलाम हैं—आश्रित हैं, दया करोगे तो रहेंगे, नहीं तो शहर छोड़ कर कहीं जंगल में जा पड़ेंगे। हम तो तुम्हारे ही आसरे हैं। हिन्दू पिघल गये। ताज़ियों का दिन आया तो हिन्दू नेता आगे हो लिये; आगे-आगे वे चलते थे, ताज़िया उन के पीछे थे। हिन्दुओं ने रास्ते खाल दिये; मुसलमान ताज़िया ले कर निकल गये; 'राम-राम' 'दुआ-सलाम' होती गई; न एक भी ख़ूँ-ख़राबी हुई न कहीं तनिक भी कहा-सुनी की नौबत आई।

लोगों ने कहा—अब दंगा न होगा। दंगे का बात तो जाती रही। इन्होंने उन के ताज़िये निकल जाने दिये, अब वे इन की होली भी उसी तरह जलने देंगे।

हिन्दू-मुसलमान, सभी ने इस बात का अनुमोदन किया, सभी ने

कहा कि, अब झगड़ा न होगा, चलो बला टली, मेल-मुहब्बत बड़ी चीज़ है।

हमेशा की तरह ताज़ियों के दूसरे दिन बाज़ार खुले, कारोबार चला। शाम हो गई थी, लोग आ जा रहे थे कि अचानक बाज़ार के एक कोने में 'मार-पीट' शुरू हो गई! देखते-देखते 'खटाखट' दूकानें बन्द होने लगीं, लोग बेतहाशा भागने लगे, चारो ओर 'भागो-भागो!' होने लगी।

रात भर सब लोग आशंकित चित्त से अपने-अपने घरों में जागते रहे, चारो ओर सन्नाटा छाया रहा। केवल एक मुहल्ले में, दक्षिणी भाग में उस रात 'मार-काट' हुई थी।

राम-राम करके दिन निकला। सड़कों पर पुलिस घूमने लगी। लोग जल्दी-जल्दी पास-पड़ोस की दूकानों से खाने-पीने की चीजें खरीदने लगे। बड़े बाज़ार बन्द थे। आज झगड़ा बढ़ने की खबर थी।

दोपहर को 'एलान' हो गया—सात बजे के बाद जो आदमी घर के बाहर निकलेगा उसे गोली मार दी जायेगी!

जनता दहशत से मरी जा रही थी। ब्रजकिशोर घर में बिलकुल अकेला था। छोकरा एक दिन पहिले छुट्टी ले कर अपने घर गया था; नौकरानी आ कर काम कर गई और 'तरकारीवाली' के यहाँ से टमाटर और आलू खरीद कर दे गई।

तब दिन के चार बजे थे। ब्रजकिशोर को सहसा भाभी का ख्याल आया। दरवाज़े पर आ कर पुकारा—"भाभी!"

किवाड़ें भीतर से बन्द थीं। भाभी ने आ कर खोलीं। ब्रजकिशोर ने कहा—"भाई साहब नहीं हैं क्या?"

"ना" भाभी ने चिन्तित स्वर में कहा—"जाने कहाँ गये हैं, नौ बजे खाना खा कर गये थे सो अब तक नहीं लौटे!"

ब्रजकिशोर ने कहा—"आज तो 'करफ्यू आर्डर' लगा है; सात बजे से सब शहर बन्द हो जायगा। फिर?"

"क्या बताऊँ!"

"अच्छा, वे कहाँ-कहाँ ज्यादा आते-जाते हैं, कुछ तो तुम्हें पता होगा।"

भाभी ने कहा—"एक तो रामगुलाम हैं कोई जगतपुरा में, उन का नाम सुना है और एक हुसेनी हैं कोई तीतरवाले; और तो मुझे कुछ भी पता नहीं। चाहे गोपालदास के यहाँ हों।"

"गोपालदास कहाँ रहते हैं?"

"उन की दूकान है छोटी मंडी में।"

"मंडी तो बन्द है।"

"उन का दूकान में ही घर है, बहनोई लगते हैं हमारे; पीला मकान है।"

ब्रजकिशोर ने कहा—"अच्छा, देखो, मैं इन जगहों में एक बार हुये आता हूँ। आज बहुत डर है। अभी इस पड़ोस के मुहल्ले पर तीन सौ मुसलमान चढ़ आये थे; सुनते हैं रात को फिर धावा होगा!"

भाभी भय-भीत हो कर आँखें फाड़े रहीं।

ब्रजकिशोर ने कहा—"भाभी डर की कोई बात नहीं है। मैं अभी भाई साहब को ढूँढ़े लाता हूँ। किवाड़ें दे लो। रामगुलाम का घर जगतपुरा में है न?"

भाभी ने कम्पित स्वर में कहा—"हाँ।"

... ...

साढ़े छः हो गया। राधाकृष्ण का कहीं पता नहीं चला। गोपालदास घर पर नहीं थे; नौकर ने कहा—"राधाकृष्ण और सेठजी साथ-साथ गये थे।"

हार कर ब्रजकिशोर लौट चला। सड़क सूनसान पड़ी थी। बीच में मुसलमानों की एक गली पार करनी थी। थोड़ी आशंका लिये ब्रजकिशोर चिन्तातुर हो जल्दी-जल्दी क़दम फेंक कर चलने लगा।

गली के किनारे पर आया तो लाइट् न थी। तनिक झुकपुके में सर्र से वह आगे बढ़ गया। पीछे से किसी ने डाँट कर कहा—"कौन जाता है!"

ब्रजकिशोर बढ़ने लगा, जवाब नहीं दिया।

"कौन है ? कौन है ?"—तीन-चार आदमी इधर-उधर से निकल आये।

पहिलेवाले ने चिल्ला कर कहा—"कोई काफिर है। मारो साले को आगे बढ़ के ! जाने न पावे !"

और तीन-चार आदमी 'खट-खट' करते दौड़े। ब्रजकिशोर के हाथ खाली थे।

केवल पैरों का बल था। जब जान गया तो भागने लगा। जीवन और मृत्यु की बाज़ी थी; भाग सका तो जीवन है, न भाग सका तो सिर पर ही मौत धरी है।

"पकड़ो ! मारो !"

ब्रजकिशोर शरीर की सम्पूर्ण ताक़त लगा कर भाग रहा था। आततायी बस कुल दस क़दम पीछे थे। अब पकड़ा !

"कौन है ?"—सामने से आवाज़ आई। ब्रजकिशोर ने सहम कर देखा, पुलिस-मैन थे। हाँफ कर कहा—"मेरा पीछा कर रहे थे—"

वे लोग नौ-दो-ग्यारह हो गये।

पुलिसमैनों ने कहा—"दस मिनिट बाद रास्ता बिलकुल बन्द हो जायगा। तुम्हें कहाँ जाना है ?"

ब्रजकिशोर ने जगह बतलाई।

पुलिसमैनों ने कहा—"जाओ, जल्दी से भाग जाओ, अब आगे तो हिन्दू ही हैं; जल्दी करो !"

ब्रजकिशोर ने दरवाजे पर आ कर साँस ली।

किवाड़ें दे कर भाभी भीतर चुपचाप बैठी थीं। दोनों घुटनों के ऊपर सिर टेंक लिया था और सोच में मर रहीं थी कि सात तो बजने पर आ गये, अब तक नहीं लौटे ब्रज बाबू ! बेचारे जाने कहाँ-कहाँ भटकते फिरे होंगे ! ऐसे लापरवाह आदमी हैं, सुबह से गये हैं, जानते हैं कि शहर भर में 'हाय-तोबा' मची है, जान-जोखिम है, फिर भी ख्याल नहीं, न अपनी सुध है, न घर की ! जाने कहाँ किस गुफ़ा-

खन्दक में जा बैठे हैं ! ब्रज बाबू बेचारे को कहाँ पता मिला होगा ? गोपालदास के यहाँ हुये तो चाहे दोनों जने साथ-साथ आते हों ; उन का घर दूर भी तो बहुत है अँधेरा हो गया; सात तो चाहे अब बजने ही वाले होंगे। हे परमात्मा, अब मैं क्या करूँ ? ब्रज बाबू भी नहीं लौटे; कहीं किसी विपदा में तो नहीं पड़ गये ! हाय, बेचारे मेरे पीछे कितनी साँसत उठाते हैं !...

"भाभी, खोलो !"

भाभी परमात्मा का नाम ले कर दौड़ी आईं। घबरा घर किवाड़ें खोलीं। ब्रजकिशोर अभी तक जल्दी-जल्दी साँस ले रहा था। भीतर आ कर उदास हो कर कहा—"भाभी, भाई साहब तो मिले नहीं। गोपाल दास के साथ कहीं गये हैं, अभी तक नहीं लौटे।"

भाभी ने कहा—"तुम वक्त से आ गये; मैं तो घबरा गई थी। बड़ा डर लगता है !"

ब्रजकिशोर ने चारो ओर देख कर कहा—"अच्छा, अब तुम अपना घर बन्द करो जल्दी से; मेरे यहाँ चलो। यहाँ अकेली मत रहो। यह इधरवाली दीवाल तो कुछ है ही नहीं। चलो, जल्दी करो !"

भाभी को असमंजस करने का—सोचने-समझने का मौक़ा ही न मिला। जल्दी-जल्दी काँपते हाथों से कोठरियों में ताला डाला और चादर ओढ़ ली।

ब्रजकिशोर ने अपना घर खोल कर कहा—"तुम ऊपर चलो, मैं तुम्हारा ताला दे आऊँ।"

फिर वह अपनी नीचेवाली किवाड़ें ख़ूब मुस्तैदी से लगा कर शान्तभाव से धीरे-धीरे ऊपर चढ़ आया।

भाभी चादर उतार कर कमरे में एक ओर आ बैठी थीं।

... ...

कमरे में ही एक ओर कोने में छोटी-छोटी ईंटों का ढेर लगा था। ब्रजकिशोर ने कहा—"देखो, जब कोई आ जाय तो तुम ये ईंटें मारना, मार पाओगी न ?"

भाभी ने हँस कर कहा—"हाँ, मारूँगी मैं, ख़ूब ज़ोर-ज़ोर से मारूँगी !"

ब्रजकिशोर ने कहा—"सम्हल कर बैठो, इधर आ जाओ, आराम करो अच्छी तरह से, भंगी-चमार की तरह अलग क्यों बैठी हो ?"

भाभी हँसने लगीं।

ब्रजकिशोर ऊपर तिमंज़िले पर चला गया। यहीं रसोईघर था। जल्दी से स्पिरिट डाल कर स्टोव जलाया और तरकारी छौंक दी, फिर एक थाली में आटा निकाल कर गूँधने लगा।

भाभी ने नीचे बैठे-बैठे यह खटपट् सुनी, छौंकने की आवाज़ भी सुनी। सो चुपचाप देखने को उठ आईं कि क्या कर रहे हैं ऊपर।

ब्रजकिशोर आटे के हाथ धो रहा था। कि भाभी चुपके से आ खड़ी हुईं। ब्रजकिशोर की नज़र पड़ी तो हँस दिया।

भाभी ने नाराज़गी से कहा—"वाह !"

चिमटे से बटलोई का ढक्कन अलग करके, एक बार तरकारी उलट-पलट कर कहा—"भाभी, तुम्हें टमाटर भाते हैं कि नहीं, हम ने टमाटर-आलू बनाया है।"

भाभी नहीं बोलीं, चुपचाप खड़ी देखती रहीं। ब्रजकिशोर ने कहा—"तुम गरम मसाला तो खाती हो ?" और मसाले का डिब्बा ले कर पूछने लगा—"डालें न ?"

तब भाभी ने डिब्बा ले लिया और स्टोव के आगे बैठ कर अपने हाथ से मसाला तरकारी में डाला और वहीं बैठी रहीं।

ब्रजकिशोर ने कहा—"तुम यहाँ मत बैठो भाभी !"

"क्यों ?"

"तुम आराम करो, हम अभी बनाये डालते हैं सब।"

"अच्छी बात है।"

"देखो, आज तुम हमारी मेहमान हो, अपने हाथ से बना कर खिलायेंगे तुम्हें।"

"बहुत अच्छा !"

इसी समय पुलिस की 'लारी' चौराहे पर खड़ी हो कर लाउड-स्पीकर से सूचना दे गई—सब लोग शान्तिपूर्वक अपने घरों में रहें; किसी को कोई ख़तरा नहीं है। रात भर हर गली में पुलिस तैनात रहेगी और सड़कों पर फ़ौज की गश्त लगेगी।

भाभी छज्जे के पास खड़ी-खड़ी सुनती रहीं। इधर ब्रजकिशोर ने जल्दी से स्टोव पर तवा रख दिया और आटे से लोई तोड़ कर परौंवठा बेलने लगा।

तब भाभी दौड़ी आईं, आ कर वहीं सट कर बैठ कर कहा—"हटो!"

"नहीं, हमें बनाने दो।"

"बना तो लिया तुम ने, अब हटो!"

"नहीं, बनाने दो।" ब्रजकिशोर ने कहा और वह बेलन चलाने लगा।

तब हठात् भाभी ने उस का हाथ पकड़ लिया और उस के मुँह पर आँखें जमा कर बोलीं—"छोड़ो!"

ब्रजकिशोर के मन में जाने कैसा हो गया। इतने पास, अकेले में, इतनी निश्चिन्तता से यह क्या व्यापार हो रहा है!

ब्रजकिशोर ने मानो अर्ध-चेतनता में भाभी की वह 'सलोनी छवि' इतने निकट से देखी; अपनी कलाई को भाभी की सुकुमार हथेली में उसी तरह जकड़ा रहने दिया।

भाभी ने हौले से हाथ को झटका दे कर कहा—"नहीं छोड़ोगे बेलन!"

ब्रजकिशोर ने दृष्टि फिर उठाई, आँखों के तारे स्थिर कर के देखा, भाभी मुस्करा रही हैं, ओठों पर भी हँसी है और आँखों में भी हँसी है। एक गाल पर स्टोव की ज्वाला पड़ रही है, वह भाग 'लाल' हो उठा है और पलकें रोक कर उसी का मुख वे निहार रही हैं।

"छोड़ो!"

"नहीं छोड़ेंगे।"—ब्रजकिशोर ने पागलों की तरह आँखें उन के मुख पर लगाये कहा।

तब भाभी ने भी दृष्टि रोक ली, उसी तरह ओठों में हँसी दाब कर कहा—"अच्छी बात है, देखें, कब तक नहीं छोड़ोगे; बैठे रहो इसी तरह !"

कलाई भाभी की सुकुमार हथेली में बन्द है। ब्रजकिशोर ने और एक बार गहरी दृष्टि से वह 'सुषमा' देखी। भाभी तो नज़र जमाये थीं, हँस पड़ीं, फिर जाने कैसे भाव से कहा—"छोड़ो !"

ब्रजकिशोर बेलन छोड़ कर खड़ा हो गया।

भाभी ने जल्दी-जल्दी पराँवठा तवे पर डाल कर दूसरी लोई तोड़ी और मुँह को ज़रा ऊपर कर के, हँस कर कहा—"अब इसी तरह खड़े रहोगे क्या ?"

"क्या करें ?"

"खाओ।"

ब्रजकिशोर वहीं आसन खींच कर बैठ गया। पूछा—"और तुम ?"

मुसकरा कर भाभी ने तवे पर घी लगा कर कहा—"क्या मुझे अपने साथ खिलाओगे ?"

ब्रजकिशोर ने जाने कैसे कह दिया—"हाँ।"

भाभी सिर झुका कर हँसने लगीं। फिर चुपचाप कटोरी में तरकारी परोस कर थाली में दोनों पराँवठे रख कर सामने किये और इधर को मुँह फेर कर कह दिया—"उन्हें भी साथ बिठा कर खिलाया करते थे क्या ?"

"किसे ?"

भाभी ने धीरे से कहा—"अपनी उन प्राणेश्वरी को !"

प्राणेश्वरी !

ब्रजकिशोर चुपचाप खाने लगा।

भाभी ने कहा—"इसी तरह, अकेली में जहाँ कोई रोक न हो, ऐसे मौक़े आये थे उनके साथ ? रात में, सब से अलग, बस दो जने ?"

ब्रजकिशोर ने कह दिया—"नहीं।"

भाभी ने चौथा परौंठा उस की थाली में फेंका। ब्रजकिशोर ने कहा—"अब नहीं खायेंगे।"

"क्यों ?"

"पेट भर गया।"

"इतनी जल्दी ! तुम को हमारा बनाया खाना पसन्द ही नहीं है; हम जानते हैं।"

"नहीं तो !"

"नहीं तो क्या; हम सब जानते हैं।"

"क्या ?"

भाभी ने मुसकरा कर कहा—"कुछ नहीं !"

... ...

भाभी खाना खा कर ऊपर से उतरीं तो ब्रजकिशोर को कमरे में चहल-क़दमी करते पाया।

पूछने लगा—"किधर सोओगी ?"

"किधर सोऊँ ?"

"सो रहो चाहे कहीं।"

"तो इधर छज्जे के पास सो रहूँगी।"

"उधर नहीं।"

"फिर ? तुम्हारे बिस्तर पर सो जाऊँ ?"

"सो जाओ !"

मुँह में धोती दे कर हँसने लगीं। बोलीं—"लाओ, कुछ बिछाने को दे दो, यहीं इधर सो रहूँगी, ईंटों के पास।"

ब्रजकिशोर ने अपना गद्दा उठा कर जल्दी से इधर डाल दिया और एक धुली चादर उस पर अपने हाथ से बिछाने लगा।

भाभी ने आगे बढ़ कर चादर पकड़ ली, बोलीं—"क्या कर रहे हो?"

"क्यों, बिछाने दो।"

"नहीं !"

"क्यों ?"

"मैं इसी पर सो रहूँगी।"

"नहीं बिछाने दो न!"

"नहीं बिछाने दूँगी!"

ब्रजकिशोर ने आँखें गाड़ कर देखा तो भाभी हँस दीं। दोनों चादर को पकड़े खड़े थे।

ब्रजकिशोर ने कहा—"इसी तरह रात बीत जायेगी।"

"बीत जाने दो!"

"अच्छा तो रहने दो।"

ब्रजकिशोर ने चादर छोड़ दी। तब भाभी ने भी हँस कर चादर छोड़ दी और अपने बिस्तर पर बैठ कर वह चादर उठा कर ब्रजकिशोर की ओर फेंक दी।...

वह कोठरी में जाने क्या कर रहा था। भाभी उठ कर अपनी चादर उतारने गईं। तब तक ब्रजकिशोर ने इधर को अपना तकिया फेंक दिया।

"यह क्या?"

"तकिया है।"

"तुम्हारे पास और है?"

"हाँ है।"

भाभी ने पास आ कर कहा—"देखें!"

ब्रजकिशोर ने सिर के नीचे इशारा किया—"यह है तो।"

भाभी ने कुछ कहा नहीं, जल्दी से झटका दे कर तकिया खींच लिया और इधर ले आ कर उसे सिर की जगह धरा और वह नया गिलाफ़चढ़ा तकिया ब्रजकिशोर के सिर के पास रख आईं।

तब वह उठा। भाभी जल्दी से लेट गईं। ब्रजकिशोर उन के पास, सिरहाने आ बैठा और तकिया उन के सिर के नीचे से खींचने लगा।

भाभी ने तकिया और ज़ोर से दाब लिया. बोलीं—"तुम मुझे परेशान मत करो।"

पर ब्रजकिशोर ने नहीं सुना, वह तकिया खींचने लगा। भाभी ने

जब देखा कि तकिया खिचा जा रहा है तो इधर को करवट ले ली। देही से देही सट गई और ब्रजकिशोर के दोनों हाथों के ऊपर उन का मुख आ धरा !

उस की अँगुलियों से भाभी का प्रश्वास छू रहा था। उसी तरह हाथों पर मुख रख कर कहा—"यह तकिया मैं नहीं दूँगी !"

ब्रजकिशोर ने उन्मत्त की नाईं एक हाथ से भाभी का मुख पकड़ कर उधर को घुमा दिया, पर उसी समय भाभी ने उस के दोनों हाथ पकड़ लिये और उठ कर बैठ गईं। सिर से अंचल हट गया था, कन्धे से भी साड़ी खिसक गई थी। ब्रजकिशोर के मुँह के और पास मुँह ले जा कर कहा—"नहीं ले जा पाओगे जी !"

ब्रजकिशोर के मुँह से शब्द नहीं निकला। उस के चेहरे पर रक्त उतर आया था। उसी सुर्ख चेहरे से जड़ हो कर बैठा रहा।

तब भाभी ने धीरे-धीरे अपने हाथ छुड़ा लिये और उस से कहा कि जाओ, अब अपने बिस्तर पर जाओ।

ब्रजकिशोर की क्या अवस्था हो गई है ?—चुपचाप आ कर अपने बिस्तर पर पड़ा रहा।

और भाभी ने हाथ बढ़ा कर रोशनी बुझा दी। कमरे में अँधेरा हो गया।

आधे घंटे तक ब्रजकिशोर आँखें खोले पड़ा रहा। फिर वह चमक कर उठ बैठा। हृदय की धड़कन द्विगुणित हो कर, 'खट्-खट्' करके बज रही थी। भाभी के बिस्तर की ओर आँखे गड़ा कर देखने लगा। इसी समय उन्होंने करवट बदली। ब्रजकिशोर शीघ्रता से लुढ़क गया।

इसी तरह और एक बार वह उठा और एक बार उसी ओर देखता रहा। पर जान पड़ा कि भाभी जाग ही रही हैं।

उसे यह क्या हो गया है ?...

अन्त में उसे नींद आ गई।

... ...

भोर के समय, जब पास की सड़क से बिगुल बजाती हुई 'गोरी पलटन' शहर से छावनी की ओर जाने लगी तो उस शोर-गुल से भाभी की आँख खुल गई।

सूर्य की पीत आभा, बहुत धीरे से आसमान के बीच आ गई थी और पश्चिम के किनारे चन्द्रमा का मुख निस्तेज होने लगा था। पास के बरगद के ऊपर शुक्र-तारा अपना आलोक फैलाये था।

नगर मानो अपनी प्रकृत अवस्था में लौट आया था और चारो ओर उल्लास-दायिनी शान्ति छाई थी।

भाभी ने पलक उघार कर कमरे में चारो ओर दृष्टि घुमा कर देखा—ब्रजकिशोर अपने बिस्तर पर न था।

भाभी चादर फेंक कर उठ खड़ी हुईं और चंचल गति से दूसरे कमरे में आ खड़ी हुईं। यहाँ भी नहीं!

तब कोठरी में घुस आ कर देख पाईं कि अँधेरे कोने में ज़मीन पर ब्रजकिशोर मुँह दिये पड़ा है!

और घड़ी भर स्तब्ध रह कर सुन पाईं, वह सिसकियाँ ले रहा है।

तो घबरा कर आगे बढ़ आ कर सिर पर हाथ धर कर कम्पित स्वर में पुकारा—"ब्रज बाबू!"

ब्रजकिशोर उसी तरह सिसकियाँ लेता रहा।

"ब्रज बाबू!"—भाभी ने आर्द्रकण्ठ से कहा—"यह क्या कर रहे हो तुम?" और दोनों हाथों से उस का मुँह ऊपर को उठाने लगीं।

तब ब्रजकिशोर ने अपना सिर और ज़मीन में गड़ा कर, ख़ूब ज़ोर से रो कर कहा—"तुम मेरा काला मुँह मत देखो! अपने घर चली जाओ।"

भाभी की आँखें डबडबा आईं, रो कर टूटी ज़ुबान से बोलीं—"तुम मुझ पापिनी का मुँह अब और कभी नहीं देख पाओगे। आज अब आख़िरी बार अपने मुँह से मुझे एक बार 'भाभी' कह दो!"

चौंक कर ब्रजकिशोर ने सिर उठाया, सारा चेहरा आँसुओं से भीगा था, बालों पर धूल और जाला लग गया था। आँखों से धारें

बँधी थीं। पलक नहीं खोले, गला फाड़ कर, मानो उस के ऊपर कोई प्रहार कर रहा हो, चीत्कार करके कहा—"भाभी !"

तब 'थर्-थर्' काँपती भाभी ने उसे बाहों में लपेट लिया, फिर उस के कन्धे पर सिर धर के आँसू बिना रोके, अपराधिनी की तरह करुणाभरी वाणी में कहा—"मुझे माफ़ी दोगे ब्रज बाबू ?"

कच्चा धागा

मास्टर साहब ने जिस दिन मकान का आधा हिस्सा किराये पर लिया, उसी दिन हरप्यारी उन के सामने पड़ गई थी और जाने कितनी घबराई-सी वह जल्दी से घर में लौट गई थी। मास्टर ग़ुसल-खाने की ओर जा रहे थे, सो चले गये। नहाये-धोये और अपने कमरे में लौट आये।

हरप्यारी निष्क्रिय हो कर तब से भीतर बैठी थी। उन की किवाड़ें बन्द होने की आवाज़ सुन कर वह जैसे जग-सी गई और अपने दरवाज़े की आड़ में खड़ी हो कर देखने लगी—बालों में कंघी करके धुली कमीज़ और अधसूखी गीली धोती पहिने मास्टर अपने कमरे का ताला दे रहे हैं। हरप्यारी आड़ से उन की ओर ताकती रही। मास्टर ताला दे कर कहीं बाहर चले गये।

उसे भी नहाना था; पर वह जाने कैसी शिथिल-सी हो कर दरवाज़े के पीछे से हट आई और खाट पर पड़ रही। फिर जैसे किसी गहिरी चिन्ता में डूब गई।

...घर के सामने से राह है और बग़ल से एक पतली गली जाती है। उस गली की ओर हरप्यारी के कमरे की खिड़की है। खिड़की प्रायः खुली रहती है; आने-जानेवाले दीखते हैं। हरप्यारी इधर को सिर किये लुढ़की थी। आधी छाती पर से साड़ी खिसक गई थी; नारंगी रेशमी चोली दीख रही थी। जाने कौन गली से हो कर गुज़र रहा था; ठीक खिड़की के पास आ कर गा उठा:—

'मारूँ जोबना के तीर, अँगिया कसि-कसि के
अँगिया कसि-कसि के, दैय्या...'

हरप्यारी सुनती रही। जब वह गाना गाता दो क़दम आगे बढ़ गया, तो उस ने तडित्वेग से उठ कर खिड़की फटाक् से बन्द कर दी।...

उस दिन तीसरे पहर रसोई बनी और हरप्यारी तब से भीतर की भीतर ही रही। फिर जब दिये जल गये तो वह उन नये पड़ोसी का इन्तज़ार करने लगी। और धीरे-धीरे दस बज गये; रात खिसकने लगी। खुरदरी खाट पर लेटी-लेटी वह सो गई। बाहरवाला दरवाज़ा सारी रात यों ही खुला पड़ा रहा। पर मास्टर न लौटे।

... ...

सूरज चढ़े अचानक अपनी किवाड़ों के पास किसी का बोल सुन कर वह जग गई। तब साफ़-साफ़ सुन पाई कि उस पार खड़े पड़ोसी कह रहे हैं—"मेरे बक्स की चाबी कहीं खो गई है; आप के पास अगर चाबियों का गुच्छा हो—"

हरप्यारी के पास केवल एक सन्दूक़ है। उस की एक चाबी है और दूसरी दरवाज़े के ताले की। दोनों को सुतली के एक टुकड़े में बाँध रक्खा था। सो लजाते-लजाते उन्हीं दो चाबियों को हाथ बढ़ा कर आगे कर दिया और आप छिपी रही किवाड़ से।

मास्टर ने चाबियाँ ले लीं। थोड़ी देर पीछे वे कमरे से निकले और चौखट के पास सुतली में बँधी वे चाबियाँ धर गये। हरप्यारी अपनी जगह से हटी न थी। पूछने को हुई कि 'खुल गया ताला?' पर उस की ज़ुबान न हिली। चाबियाँ सामने धरती पर पड़ी थीं और वह खड़ी-खड़ी उन्हें देख रही थी। तभी बन्द खिड़की पर खट् करके किसी ने आवाज़ की।

... ...

यह मुहल्ले की महरिन थी। पास-पड़ोस के घरों में काम करके अपना और दो बेटों का पेट पालती थी। महरा उसका मर चुका था; दुख की मारी थी और बिन सहारे थी।

हरप्यारी से अपने सुख-दुख की बात कह लेती थी और जी का बोझ हलका हो जाता था। कोई हाट-बाज़ार का काम आ पड़ता तो

कर लाती और कोई छोटी-मोटी ज़रूरत पड़ती तो इसी हरप्यारी से पूरी हो जाती।

हरप्यारी ने खिड़की से झाँक कर देखा तो किवाड़ें खोल दीं; मुसकरा दी और हौले से कहा, मीठे ओठों से—"आओ!"

महरिन बैठती-बैठती पूछने लगी—"बाबू गये वे?"

"गये,"—हरप्यारी ने कहा। फिर वह रात की बात सुनाने लगी; फिर यह तालियों की बात भी सुना दी और बोली—"खाना-ऊना जाने कहाँ खाते हैं!"

महरिन बोली—"खायेंगे कहाँ; होटल में खा आते हैं। कहते थे कि तनिक ठीक-ठाक हो ले, सामान ले-लिवा आयें तो फिर रसोइया रखेंगे एक। होटल में उन का पेट नहीं भरता।"

हरप्यारी न बोली।

महरिन ने कहा—"उन से तो न कहा और कल तुम्हारे पास भी बैठ न पाई। अब कह रही हूँ; तुम्हीं कर लो न!"

"क्या?"—हरप्यारी ने उदास हो कर पूछा।

"यही, बाबूजी का काम। तुम्हारे घर में तो रहते हैं। न कहीं आना न जाना; अपने लिये तो रसोई बनाती ही हो, उन के लिये भी दो रोटी और सेंक लीं। तुम्हें भी सहारा हो जायगा और वे भी परेशान न रहेंगे।"

हरप्यारी के ओठों पर हँसी आ गई। जवाब तो कुछ न दिया, पंखा घुमाने लगी धीरे-धीरे।

महरिन बोली—"बिटिया की सौगन्ध, बड़े भले-मानुस लगते हैं ये बाबू! तुम्हारा इस में हर्ज ही क्या है?"

हरप्यारी ने मुसकराते-मुसकराते कहा—"हर्ज तो कुछ नहीं है। मुझे उन से 'शरम' लगती है।"

महरिन ने कहा—"शरम की क्या बात है! उन से बोलना नहीं-चालना नहीं। कुछ बात हुई तो मुझ से कहला दी।"

हरप्यारी चुप रही।

महरिन बोली—"और तुम यह नहीं सोचतीं कि अब करोगी क्या ! लड़कियों के स्कूल की नौकरी तो वह छूट गई; कैसे काम चलाओगी !"

हरप्यारी ने धीरे-धीरे कहा—"तुम पहिले उन से पूछ तो लो। चाहे उन्हें मंजूर न हो; आदमी ही रखना चाहते हों।"

... ...

पर मास्टर साहब ने सुनते ही कह दिया—"अच्छी बात है।"

हरप्यारी आड़ में खड़ी उत्सुकता से उन के उत्तर की प्रतीक्षा कर रही थी। उसे सुन कर लगा कि जैसे किसी ने उस के मन के चारो ओर एक लाइन खींच दी कि बाँध लिया मन को उस लाइन के बीच, कि कलेजे पर हाथ धर दिया हौले से, कि अब उसी हाथ के नीचे धड़कन हो रही है।...

महरिन बोली—"बाबू, तुम्हें कुछ करना नहीं है; बिट्टो सब अपने आप कर लेगी; वह बड़ी होशियार है, सब कामों में। अब तुम खाना खाओगे तब ख़ुद ही पता चल जायगा।"

मास्टर साहब चुप-चुप सुनते रहे।

महरिन बोली—"वह लड़कियों का स्कूल है नहीं—वह बड़ा-सा—पुल के पार ?"

मास्टर साहब ने धीरे से कहा—"हाँ।"

"बिट्टो उसी स्कूल में खाना बनाती थी, लड़कियों का। बड़ी मिस साहब नाराज़ हो गईं; बस, दो ही दिन में नौकरी से अलग कर दिया।"

"क्यों ?"—मास्टर ने जैसे चौंक कर पूछा।

"इस का भाग खोटा था, और क्या कहूँ ! भाग खोटा न होता तो काहे को तो दूल्हा छोड़ कर चला जाता और काहे को बेचारी को मैय्या मरती ! अब तो ये धरती माता हैं और आकास के नीचे घर है इस का; आगे-पीछे कोई नहीं—कोई नहीं !"

मास्टर साहब ने कुछ न कहा। केवल जेब से एक रुपया निकाल

कर बोले—"लो, सामान ले आना जो जरूरत हो।" और चुप हो गये।

... ...

दो महीने से ऊपर हुआ स्कूल का काम छोड़े। अपने लिये क्या था, उलटी-सीधी डाल लेती थी। आज जो इन मास्टर साहब के लिये खाना बनाने लगी तो जैसे उस के हाथ-पैर फूलने लगे। लगा कि उसे कुछ भी ठीक तरह से बनाना नहीं आता है। शाक, दाल, चावल, रोटी सभी में मानो कुछ न कुछ त्रुटि रह गई। चटनी पीस कर रख ली थी। उस का रंग जाने कैसा हो गया! दो-तीन बार उठा-उठा कर देखा, फिर हार कर वह चटनी फेंक दी। दुबारा फिर और पीसी।

दोपहर को स्कूल बन्द हुआ तो मास्टर साहब लौटे। कपड़े उतार कर बैठे थे अब और पंखे से हवा कर रहे थे। महरिन घर चली गई थी।

हरप्यारी बार-बार किवाड़ से झाँक कर देखती और खिड़की पर जा खड़ी होती। पर महरिन के खड़ुओं की आवाज न आती। खाना जाने कब का बना धरा था। मन दुखी हो गया तो भीतर ही भीतर उसे कोसने लगी—जाने कितनी देर में लौटेगी हत्यारिन!

तभी अचानक सुना कि महरिन 'बाबू' से कह रही है—"खाना तैयार हो गया है। यहीं खाओगे कि रसोई-घर में?"...

मास्टर साहब का जवाब सुन लिया था। फिर भी जब महरिन पास आई तो उस से पूछने लगी—"कहाँ खायेंगे?"

"रसोई-घर में", महरिन बोली—"चलो, उठो, थाली परोसो।"

तब हरप्यारी घबरा कर, सिर हिला कर बोली—"ना-ना, मुझ से उन के सामने न बैठा जायगा! सब चीजें वहीं रक्खी हैं। तुम थाली रख देना। परोस कर खा लेंगे।"

महरिन क्षण भर खड़ी रही। फिर तनिक क्षुब्ध हो कर चली गई बाबू के पास।

फिर जब मास्टर साहब खाना खा कर उठ गये तो वह हरप्यारी को बतला गई कि रसोई-घर खाली पड़ा है।

और हरप्यारी अब खाने बैठी तो हर चीज़ को ज़रा ज़रा-सा चख कर देखा—हाय, किसी में स्वाद नहीं है! उन्हीं स्वादहीन चीज़ों को वह धीरे-धीरे खाने लगी और कहने लगी कि क्या कहते होंगे अपने मन में! कि इसी खाने की तारीफ़ कर रही थी महरिन! कि चाहे आज शाम को महरिन से कह दें कि रहने दो, हम होटल में ही खा लिया करेंगे। हर चीज़ को खाती थी और कहती थी—हाय, किसी में स्वाद नहीं है!

... ...

दूसरे दिन जब महरिन बाज़ार से शाक-तरकारी ख़रीद कर लाई और हरप्यारी को पैसों का हिसाब दिया तो कहने लगी कि बाबू तुम्हारे कल के खाने की बहुत बड़ाई कर रहे थे। कहते थे कि ऐसा खाना ही मुझे भाता है।

हरप्यारी हरे शाक को उलट-पलट कर घास बीन रही थी। उस का हाथ जहाँ का तहाँ रुक गया; फिर आँखें फाड़ कर अचरज से पूछने लगी—"सच?"

"सच, तेरी सौगन्ध, बहुत ख़ुश थे और बहुत बड़ाई कर रहे थे तेरे बनाने की।"

हरप्यारी ने आँखें गिरा लीं और वह फिर घास बीनने लगी।

महरिन बोली—"भला कहाँ होटल का खाना और कहाँ तुम्हारे हाथ का! होटल में तो, सुनते हैं, दाल में छौंक भी नहीं देते हैं। लूट होती है निरी।"

हरप्यारी ने कोई बात न कही। शाक बिन गया तो चटपट उठ कर रसोई-घर में चली गई और अपने सारे जतन से खाना बनाने लगी।...

अपने खाना बनाने की तारीफ़ उस ने जाने किस-किस के मुँह से कितनी बार सुनी थी। पर वह सब जैसे कानों के बाहर ही रह

गया था। मानो आज कानों के भीतर तक आवाज़ पहुँची है। पर तो भी मन को सन्तोष न था; विश्वास न होता था; सोचने लगी—चाहे इस महरिन ने यों ही मुझे खुश करने को कह दिया हो! पर जो कहीं सचमुच उन्हें खाना पसन्द आया हो तो हरप्यारी का सौभाग्य है; ज़िन्दगी सफल है।

ज़िन्दगी सफल है! कह क्या रही हो! जाने कौन हैं, जाने कहाँ के, किरायेदार हैं और पैसा दे कर खाना बनवा रहे हैं, नाम-धाम तक का पता नहीं। उन्हें अगर खाना पसन्द आये तो तुम्हारी ज़िन्दगी सफल होगी! ऐसी बात कहते लाज नहीं लगी तुम्हें?

हरप्यारी को बहुत लाज लगी और वह लजा कर बोली—अब ऐसा कभी न कहूँगी।

दाल चढ़ा दी थी। बटलोई के ऊपर का ढक्कन भाप से 'फुर-फुर' कर के उठ रहा था और उफान आ-आ जाता था। हरप्यारी बैठी-बैठी ऊपर उठते उस ढक्कन को देखती रही और जाने क्या सोचती रही।

... ...

यह शहर, यह मुहल्ला, यह घर, घर की दीवारें और इन दीवारों के बीच हरप्यारी। और आगे अब कुछ नहीं है। न वह किसी को जानती है, न वह किसी से मिली-जुली है। माँ थी तो उस की गोदी में सिर छिपा लेती थी; माँ न रही तो अब खाट में—धरती में मुँह छिपा लेती है। इसी तरह अपना मुँह छिपाये-छिपाये वह सूरज और चाँद को सिर के ऊपर से जाने देती है—सर्दी-गरमी जाने देती है। और जब आँगन के ऊपर आसमान में बादल घिर-घिर आते हैं, तो उन्हें टकटकी बाँध कर नहीं देखती। देख कर क्या करेगी? कहाँ को वह इन मेघों से सन्देश भेजेगी? किस प्रवासी के लिये?

'पति' की शकल तक याद नहीं है। जाने धरती के किस छोर पर वह है! माँ ने भाग्य पर भरोसा करके यही विश्वास रक्खा कि किसी दिन वह ज़रूर लौटेगा। इसी से 'सुहागिनों' के सब त्योहारों पर उस से पूजा करवाती रही और हरप्यारी निर्भाव हो कर पूजा करती रही।

पर अब उस ने सब छोड़ दिया है। काहे की आशा रख कर वह 'सुहागिन' बने ? इसी से कभी-कभी वह माँग में 'सिन्दूर' लगाना भूल जाती है। हाथ की चूड़ियाँ टूट जायँ तो दिनों तक एक हाथ चूड़ियों से खाली रहता है। महरिन देख पाती है तो मनिहार को बुला कर चूड़ी डलवा देती है। तब हरप्यारी के ओठों पर जाने कितनी शुष्क हँसी आ कर मुरझा जाती है। इसी तरह ज़िन्दगी भर उस का 'सुहाग' अचल रहेगा !

जिस ने सुख पाया हो, जिस ने रँगरेलियाँ देखी हों, वह उन सबकी याद करके रोये। पर जो सदा से 'सूना' है वह किस को ले कर दुख मनाये; किस के लिये उस की आँखों से जल बहे ?

तो भी किसी दिन बिन-परों का पंछी छटपटाने लगता है और हरप्यारी की आँखों से आँसू झरने लगते हैं कि जिन को न कोई पोंछने वाला है न रोकनेवाला है। चाहे वे क्षण-भंगुर मोती खाट में समा जायँ, चाहे धरती पर गिर कर टूट जायँ, चाहे वह सारी रात रोती रहे। जब जी भर जाता है तो हरप्यारी ही उन्हें पोंछ कर चुप हो लेती है।...

सामने के घर में जो बंगाली परिवार रहता था, वह चला गया। अब कोई नया आदमी आ गया है। वह जब-तब हरप्यारी के सामने पड़ जाता है और जाने कैसी भयानक दृष्टि से उसे ताकता है। उस दिन उस ने एक फूलों का गुच्छा अपनी छत से फेंका, हरप्यारी के ऊपर। और रोज़ शाम को घंटों खड़ा रहता है, सामने की छत पर।

एक मुहल्ले का लड़का है। वह अगर हरप्यारी को आता-जाता देखे, तो वहीं राह में खड़ा हो जाता है और उस की ओर देख कर मुसकरा देता है। दूर निकल जाय तो गाना गाता है। खिड़की के नीचे से निकले तो गाता है। उस की पतंग हरप्यारी के मकान के ऊपर ही उड़ती रहती है। हरप्यारी अगर ऊपर हो तो जाने क्यों पतंग हरप्यारी की छत पर गिर पड़ेगी !...

और वकील साहब का महराज जानकी रँडुआ है। उस ने महरिन

से कहा था कि मैं हरप्यारी से शादी कर लूँगा। मेरी बहू का जेवर बना है—ढाई सेर चाँदी! गाँव में मेरा घर खड़ा है, बगिया है मेरी। सब हरप्यारी के नाम कर दूँगा।

महरिन से उस से झगड़ा हो गया। बोली—"तेरे कोई बहिन नहीं है? उसी से फेरे डाल ले; उसी को 'रखेल' कर ले!"

जानकी ने भी गाली दी। मुहल्लेवाले इकट्ठे हो गये। क्या मामला है? तो जानकी ने पूरी बात सुनाई। सब हँस रहे थे।...

कालेज के तीन लड़के उसी दिन मकान देखने आये थे। उन्हें मकान की जरूरत थी और 'मेस' भी बनाना चाहते थे। खूब सजे-बजे थे और दो कमरों का किराया बारह रुपया दे रहे थे और दस रुपये रोटी बनवाने के लिये और तीज-त्योहार पर इनाम और छमाही के कपड़े। महरिन से बातें करके बाहर जाने लगे, तो एक धीरे से बोला—"आँखें बड़ी कटीली हैं!" दूसरा बोला—"बड़ा मजा रहेगा यार!"...

उन का सामान आने को था, तब महरिन से किसी तरह हाथ जुड़वा कर कहलवाया कि मकान दूसरे को उठा दिया है, एडवांस ले चुके हैं।...

फिर ये मास्टर साहब आये, बिलकुल चुप रहनेवाले। इन से जैसे-जो कुछ कहा गया सब मानते गये और सिर झुकाये 'अच्छा' कहते गये। महरिन ने कहा कि—'गुसलखाना एक ही है।' तो बोले कि—'हम कमरे में बाल्टी भर कर नहा लिया करेंगे।' महरिन ने कहा कि—'दरवाजा तो आँगन में है; मकानवाली निकलती-बैठती है; तनिक ख्याल रक्खें, कोई आप का मिलने-जुलनेवाला यों ही न चला आये भीतर।' तो बोले कि—'मेरा कोई संगी-साथी नहीं है; मैं इस दरवाजे से नहीं आया करूँगा; कमरे से ही निकल जाया करूँगा बाहर को।' हरप्यारी ने आठ कहे थे, महरिन ने नौ बताये, तो नौ रुपये ही देने को राजी हो गये। एक बार भी यह न कहा कि—'नौ तो बहुत ज्यादा हैं, कुछ कम होना चाहिये।' इन्हीं को दिया फिर मकान।...

जब तक स्कूल में रहते हैं, घर सूना रहता है। घर में रहते हैं, तो भी घर सूना-सा रहता है। ऐसे चुपचाप रहते हैं कि लगता ही नहीं कि कोई आदमी और भी इस घर में रहता है। नीचे को नज़र रहेगी और चुपके से चले जायेंगे। नीचे को नज़र रहेगी और हौले से आ जायेंगे। पहिले दिन जब ये आये थे और शाम को चुपचाप लेटे थे और हरप्यारी ने खाना बनाया, तो जाने क्यों उस की इच्छा हुई थी कि जा कर उन के आगे थोड़ा खाना रक्खे कि—खा लीजिये, आप ने शायद आज कुछ नहीं खाया है। और जब वह अपने लिये परोस कर खाने लगी तो याद आता रहा कि मास्टर साहब लेटे हैं उस कमरे में और उन्होंने शायद आज कुछ नहीं खाया है। और तब से फिर हर दोपहर को और हर शाम को खाना बनाते-खाते यही याद रही कि मास्टर साहब उस कमरे में लेटे हैं...

उन के लिये कल खाना बनाया है और आज बना रही है। कल खाना ठीक नहीं बना था। तो भी पसन्द आया उन्हें। बहुत ख़ुशी लग रही है।

ख़ुशी ! हाँ, और क्या ! भला अपनी तारीफ़ किसे अच्छी नहीं लगती है ? और नहीं तो मेरा उन का क्या नाता-रिश्ता है जो उन की तृप्ति से मुझे तृप्ति हो !

बुद्धि बोली—बेशक, तुम्हारा उन का क्या नाता-रिश्ता है। हाँ, यह कह लो कि भले आदमी हैं; उन को सुख पहुँचाना अपना फ़र्ज है।

हरप्यारी ने मानो बहुत-बहुत उत्साहित हो कर कहा—भले मानुस ! वे तो 'देवता' की तरह लगते हैं; उन के सुख के लिये मैं जी-जान लड़ा दूँगी !

अरे, चुप चुप अभागिन !—बुद्धि घबरा कर बोली। तो हरप्यारी ने दाँतों से अपनी जीभ काट ली और चौंक कर चारो ओर देखा।...

दाल में उफान आ कर बाहर निकल गया था और आग बुझ गई थी। लकड़ियाँ धुआँ छोड़ रही थीं और 'सूँ-सूँ' हो रही थी उन में। हरप्यारी झुक कर चूल्हा फूँकने लगी। बड़ी देर में आग जली।

रसोईघर में धुआँ घुट गया और खिड़की की राह बाहर को उस के गुब्बारे उड़ते चले। हरप्यारी की आँखों से धुयें के कारण भर-भर पानी निकलने लगा तो पलक मींचे बाहर को भागी।

रंग उस का तनिक साँवला है; पर मुख देखने पर लगता है कि वह 'सुन्दरी' है। असल में उस की ये आँखें हैं ऐसी—इतनी सरल और इतनी लजीली कि देखनेवाले से बरबस कहलवा लेती हैं कि बेशक, बेशक हरप्यारी सुन्दरी है। और तसवीरोंवाली ये आँखें ही कहती हैं कि उमर हरप्यारी की यही होगी उन्नीस-बीस।

वे कमल की जैसी आँखें बन्द थीं पलकों में और चेहरा आग फूँकने से लाल हो गया था और सिर से अंचल हट गया था पीठ पर और बालों पर थोड़ी-सी धूल लग गई थी और धीरे से 'स्सी' कहती आ रही थी। आँगन के बीच ठंडी हवा लगी, तो वे सरल-सरल आँखें खोल दीं और तब देखा कि मास्टर साहब सामने चौखट पर हैं और इधर को उन की नज़र आई। हाय राम!

हरप्यारी सुध भूल कर भागी और पास के गुसलखाने में जा खड़ी हुई।

उधर मास्टर साहब क्षण भर ठिठके, फिर अपने कमरे में लौट गये।

... ...

पहिले जो किरायेदार रहते थे, माँ के ज़माने में, उन की 'पतोहू' पढ़ी-लिखी थी। उसी ने हरप्यारी को इतना अभ्यास करा दिया था, नहीं तो पहिले वह अक्षर मिला-मिला कर पढ़ती थी। अब खूब जल्दी-जल्दी पढ़ लेती है, चाहे कोई भी किताब हाथ में दे दो। वह पतोहू चलती बेला दो-तीन किताबें दे गई थी। उन किताबों में बड़ी सुन्दर-सुन्दर कहानियाँ हैं। एक कहानी एक लड़की की है। उस का पति उस से नाराज़ हो कर घर से चला गया था। सालों तक दीर्घ तपस्या करके जब उस की प्रतीक्षा का अन्त हो गया और निराश हो कर जब उस ने 'विधवा' का वेष धारण कर लिया तो एक दिन वह

'निरदयी' उस के सामने आ खड़ा हुआ !...यह कहानी हरप्यारी को बहुत प्रिय है। पचासों बार इस कहानी को वह पढ़ चुकी है। और जब-जब पढ़ती है आँसुओं से उस का अंचल भींग जाता है। यह तो उसी की कहानी है !

वही 'कहानी' पढ़ रही थी रो-रो कर और दिल निकल-निकल आता था कि फड़ाक् से किसी ने बाहरवाले दरवाज़े की किवाड़ें खोल दीं।

आड़ से देखा तो मास्टर साहब आँगन के बीच खड़े हैं और उन के पीछे मज़दूर सिर पर लकड़ियों का बड़ा-सा गट्ठर लादे घुस रहा है, हाँफता-हाँफता। छज्जे के नीचे-नीचे दीवार छूता-छूता आया और आँगन के किनारे उस ने वह गट्ठर पटक दिया। ख़ूब ज़ोर से आवाज़ हुई और वह मज़दूर गट्ठर से अपनी रस्सी निकालता-निकालता कहने लगा—"ऐसी लकड़ी आप बाज़ार भर में नहीं पायेंगे ! ये मसाल की तरह जलेंगी भक्-भक्। जंगल की लकड़ी है बाबू ! और कोई दूकानदार बारह घड़ी को भी न देगा !"

मास्टर साहब ने अपना बटुआ खोला; दाम निकाल कर बोले—"लो।"

मज़दूर ने गिने तो गिड़गिड़ा कर बोला—"हुज़ूर, एक पैसा बीड़ी पीने को और मिल जाय।"

मास्टर साहब ने एक पैसा उस की फैली हथेली पर और धर दिया। बड़ा ख़ुश हुआ। 'सलाम' की उसी हाथ से और रस्सी उठा कर चला गया। मास्टर साहब अपने कमरे में घुसे। घर में फिर पहिले जैसा सन्नाटा हो गया।

हरप्यारी किवाड़ों के पास से अपनी जगह पर लौट आई; खाट पर गिर कर किताब उठा ली सिरहाने से और बढ़ना शुरू किया आगे को।

पर किसी भी तरह पढ़ने में मन न लगा। उसे जाने क्या हो गया। ऐसा प्रतीत होने लगा कि चित्त से सब 'बोध' उतर गया है और दिल उस का देही से निकल कर राह की धूल में जा गिरा है

और आँखें पत्थर-मिट्टी की हो गई हैं। लेटी थी और लेटी थी। उसे जानें क्या हो गया।

महरिन सिरहाने आ खड़ी हुई थी। चुपचाप मुसकराती खड़ी रही कई मिनिट तक। पर हरप्यारी को तनिक भी पता न चला।

तब हार कर कहा कि—'क्या सपना देख रही हो खुली-खुली आँखों का? कब से मैं खड़ी हूँ और तुम्हें तनिक होश तक नहीं!'

हरप्यारी अपनी धोती का अंचल सम्हालती उठ बैठी, पर मुँह से कुछ न कहा।

महरिन सामने को आई और बोली—"लो।"

"क्या है?"

महरिन बोली—"लो, सम्हाल कर सीं दो इसे।"

धोती उस ने खाट पर रख दी, कि जिस में एक बालिश्त भर का 'खोंचा' लगा था, तिरछी-तिरछी फटी थी।

सुनाने लगीं—"वहाँ लकड़ियों की 'टाल' पै किसी 'खपच' में हिलग कर बेचारे की धोती फट गई, सो अब इसे सीने बैठे थे, सुई-डोरा ले कर। मुझ से तो देखा न गया, जबरदस्ती छीन लाई। तुम सीं दो अब सम्हाल कर।"

महरिन चौका-बरतन करने उठ गई। तब हरप्यारी सुई ले कर हौले-हौले उस फटी धोती को सींने लगी। और अपने आप से कहने लगी—सम्हाल कर सीं दूँ, जिस से फटी मालूम न पड़े यह। तब किसी ने कहा कि—लेकिन महरिन के हाथों इसे भिजवाना भी तो है और उस के जाने का वक्त हो आया। हरप्यारी ने तब बहुत शरमा कर डरते-डरते कहा कि—महरिन चली जायगी तो फिर मैं ही दे आऊँगी।

तुम! तुम जाओगी उन के सामने!

हरप्यारी ने हौले से कहा कि—सो क्या हुआ, चली जाऊँगी किसी तरह।

... ...

रात को महरिन बाबू के लैम्प में तेल भरवा लाई; उसे टेबिल पर जला कर रख दिया, फिर हरप्यारी से आ कर कहा—"लाओ, कहाँ है उन की धोती ? दे आऊँ अब।"

हरप्यारी ने कहा झिझकते—"उसे तो मैं तभी दे आई सीं कर।"

"अच्छा !"

तनिक मुसकरा कर कहा—"क्या करती, ऐसा लगा कि धोती की जरूरत है। नल की तरफ़ गये तभी जल्दी से फेंक आई बिस्तर पर।"

"देखा तो नहीं तुम्हें ?"

शरमा कर कहा—"पता नहीं, चाहे देख लिया हो वहाँ से।"

महरिन बोली—"भला किया। और फिर उन से इतना पर्दा करना क्या ठीक है ? मान लो, कोई आपद-बिपद आ पड़े तो मैं तो चौबीसों घंटे यहाँ बैठी नहीं रहूँगी; पुकारना ही पड़ेगा, बोलना भी पड़ेगा कभी।"

हरप्यारी कुछ न बोली, पर मन बोला कि—पुकारना ही पड़ेगा तो पुकार लेंगे, बोलना ही पड़ेगा तो बोल लेंगे।...

शाम को पक्का खाना बनता है। हरप्यारी परोस देती है और महरिन कमरे में दे आती है। हरप्यारी करती जाती है, महरिन थाली में रख-रख आती है।

दूसरे दिन शाम को, मास्टर साहब खाने बैठे थे। महरिन सिर्फ एक परौंवठा थाली में रख कर लाई थी। अब दूसरा लेने आई तो हरप्यारी ने कहा कि—'तनिक रुक जाओ। और सेंके देती हूँ अभी; इसे मत ले जाओ। जल गया यह तो।' फिर लकड़ी को चूल्हे के बाहर खींच कर बोली कि—'देखो तो, एक लकड़ी रख दी है सो अकेली ही भर-भर जल रही है ! ये लकड़ियाँ जो कल आई हैं—'

"मौसी, अरी ओ मौसी !"—किसी ने आँगन के पार से चिल्ला कर कहा।

महरिन ने जवाब दिया—"हाँ, कौन है ?"

"अरे, बलदेवा गिर पड़ा है सीढ़ियों से; जल्दी चलो !"

"मैय्या री !"—कह कर महरिन ने हाथ की तश्तरी ज़मीन पर रख दी और पागलों की तरह भागती चली गई।...

मास्टर साहब वहीं एक परौंवठा खा कर बैठे थे और सोच रहे थे कि अब क्या करना चाहिये; ख़ुद जा कर माँग लायें कि वहीं थाली उठा ले चलें, कि अब खाना ही बन्द कर दें।

उधर हरप्यारी दरवाज़े के पास तश्तरी में परौंवठे लिये खड़ी थी और कलेजे में धुकुर-पुकुर हो रही थी। आगे को क़दम बढ़ाती थी और रुक जाती थी।

लैम्प की तरफ़ देखने लगे तो बत्ती कुछ तेज़ दीखी। सो उठ कर चले उधर बत्ती कम करने कि हरप्यारी ने हिम्मत करके आगे बढ़ आ कर थाली में दो परौंवठे धर दिये चट।

एक परौंवठा शायद और खाते, पर बोले कि—अब रहने दो; बेचारी आते लजाती है, क्यों परेशान करोगे फ़िज़ूल। सो पानी पी कर उठने लगे; क़रीब-क़रीब उठ ही बैठे थे कि नीचे को आँखें किये फिर हरप्यारी आई और ख़ाली थाली में दो परौंवठे रख दिये और तो मास्टर साहब फिर बैठ कर खाने लगे।

हरप्यारी चूल्हे के पास लौट कर बैठी तो ख़ूब हँसी आ रही थी। अकेली-अकेली हँसती रही और परौंवठे सेंकती रही।

... ...

पखवारा बीत गया। हरप्यारी की ज़िन्दगी इन्हीं पन्दरह दिनों में कुछ से कुछ हो गई। पहिले कोई काम ढूँढ़े से भी नहीं दीखता था करने को; अब उसे रोज़ कोई न कोई काम घेरे ही रहता है। पर ये मास्टर साहब ऐसे अजीब हैं कि कुछ कहा न जाय! अपने आप ही हर काम को ले कर बैठ जायेंगे; चाहे करने का हो, चाहे न करने का। लेकिन यह इन से कभी न होगा कि तनिक ज़ुबान खोलें!...

अब उस दिन धोबी कपड़े दे गया था। बटन तोड़ लाया कमीज़ के। सो बाज़ार से जा कर बटन मोल लाये और यहाँ टाँकने बैठ गये।

हरप्यारी आड़ से देख रही थी। टाँक-टूँक कर जब कमीज़ पहिनी और बटन लगाने लगे तो कोई ऊपर और कोई नीचे। हँसी छूटने लगी देख कर। भला, उस से कह देते तो क्या हर्ज हो जाता, कि हरप्यारी थक जाती बटन टाँकते? अब धोबी का हिसाब अपने सुपुर्द कर लिया है और कपड़े पहिले अपना ख़ुद देख लेती है। कोई फटा-उटा हो तो सीं देती है।...

ऐसे ही उस दिन वह 'लेई' बनाने जा बैठे रसोईघर में। जाने कहाँ से आटा ले कर कटोरी में घोल कर पका रहे थे। कोयलों पर कागज़ रख कर फूँक रहे थे और लकड़ी के टुकड़े से टालते जाते थे लेई को। हरप्यारी ने उस दिन भी जान लिया और वह छिप कर देख रही थी। चिमटा तो था नहीं; एक कोयले को उसी लकड़ी के टुकड़े से ठीक करने लगे कि कटोरी उलट गई और वह घोला हुआ आटा चारो ओर बह गया सफेद-सफेद! अब बताओ, हँसी कैसे न आये? बड़ी देर तक वह अपने मुँह में धोती दिये हँसती रही। फिर गोंद पका कर एक शीशी में करके उन के पास रखवा दिया...

तीन-चार दिन हुये, महरिन अपने बलदेवा की हड्डी ठीक करवाने कहीं किसी जर्राह के पास ले गई थी। दिये जल गये, तब तक न लौटी। हरप्यारी चौके में थी। खाना तैयार हो चुका था। अचानक नल के पास बरतनों की खन्-खन् हुई। हरप्यारी ने वहीं से पुकारा—"चाची!" पर महरिन न बोली। सन्देह हुआ तो उठ आई काम छोड़ कर। तब रसोईघर की चौखट से देखा—मास्टर साहब नल के नीचे बैठे अपने जूठे बरतन माँज रहे हैं। अवाक् हो कर वह देखती रही, मास्टर साहब दोपहर की जूठी थाली माँज रहे थे। हरप्यारी के दिल पर बहुत चोट लगी और उस के आँसू निकल आये। इन बरतनों को माँजने की क्या ज़रूरत थी? क्या एक दिन ये हरप्यारी के बरतनों में नहीं खा सकते थे? इतना अपना-पराया समझते हैं! हरप्यारी से ये बरतन नहीं साफ़ हो सकते थे क्या? कि वह मना कर देती धोने को!

मास्टर साहब बरतन साफ़ करके रसोईघर के दरवाज़े पर रख

गये, तो बरबस हरप्यारी की आँखों से आँसू टपकने लगे; रोने लगी दुख पा कर।...

महरिन आजकल अक्सर देर से आ पाती है, बलदेवा का पैर ठीक नहीं हुआ है। बस, मास्टर साहब ने तमाशा किया। झाड़ू उठा लाये वहाँ से और बुहारने लगे कमरे को। उस दिन तो कुछ न बोली। दूसरे दिन तड़के ही वह झाड़ू उठा लाई और अपनी कोठरी में रख ली। अब मास्टर साहब झाड़ू तलाश करते फिर रहे हैं और हरप्यारी छिपी-छिपी देख रही है और हँस रही है छिपी-छिपी। हार कर मास्टर साहब नहाने-धोने चले गये। तब हरप्यारी ने चुपके-चुपके आ कर कमरा बुहारना शुरू किया। फिर बिस्तर झाड़ कर बिछाया, फिर उल्टी-सीधी पड़ी किताबें ठीक कीं, फिर आलमारी की, मेज-कुरसी की धूल पोंछी, फिर यह ठीक किया, वह ठीक किया। काफी देर लगी; मास्टर साहब अब तक नहा कर न लौटे। हरप्यारी ने एक बार कमरे के चारो ओर दृष्टि घुमा कर देखा—सब ठीक है और ख़ुश-ख़ुश निकल चली वहाँ से—ऐसे कि झाड़ू हाथ में और चेहरे पर, पलकों पर धूल छाई हुई, महीन-महीन और भूरी-भूरी, मास्टर साहब के कमरे की।

चौखट के पार क़दम रक्खा ही था कि घबरा कर देखा—मास्टर साहब वहीं दीवार से सटे खड़े हैं चुप, हाथ में गीली धोती और तौलिया लिये, जाने कब के।

हरप्यारी लाज से मर-मर गई। किसी तरह ताक़त लगा कर अपनी कोठरी तक आ पाई तो भीतर आ कर साँस ली। और वह बैठी-बैठी अपने आप से ही पूछने लगी कि—मुझे इन से इतनी शरम क्यों लगती है?...

सुबह तड़के-तड़के मास्टर साहब स्कूल जाते हैं और ग्यारह-साढ़े ग्यारह तक लौटते हैं। बारह-साढ़े बारह पर खाना खाते हैं। तब तक मुँह में अन्न का दाना उड़ कर नहीं जाता, यों ही रहते हैं सूखे मुँह। हरप्यारी ने सूजी-चीनी इकट्ठी मँगवा कर रख ली है। अब तड़के-

तड़के मास्टर साहब उठते हैं, तो हरप्यारी की अँगीठी सुलगती दीखती है। नहा-धो कर कमरे में लौटते हैं तो मेज़ पर गरम-गरम हलुआ तश्तरी में धरा मिलता है। मास्टर साहब चुपचाप खाने लगते हैं, तो हरप्यारी ख़ुश-ख़ुश देखती है।...

उस दिन अन्दाज़ से ज़्यादा सूजी पड़ गई। आध सेर के क़रीब बन गया हलुआ। मास्टर साहब की तश्तरी ऊपर तक भर दी, फिर भी बच रहा ढेरों। महरिन तब तक आई न थी। सोचा—मैं ही खा लूँ थोड़ा-सा; थोड़ा महरिन को रख छोड़ूँगी। बरतन सब जूठे पड़े थे। चारो ओर देखने लगी। सामने मेज़ पर मास्टर साहब की जूठी तश्तरी पड़ी है। जाने कौन इच्छा मन के गोपन अन्तराल में जागरित हो उठी। हरप्यारी ने वह जूठी तश्तरी उठा ली और जैसे आँखें मूँद कर उस में हलुआ रख लिया और जैसे आँखें मूँदे वह खाने लगी। बुद्धि पूछने लगी—क्यों हरप्यारी, अगर कोई यह जान पाये! क्या?—हरप्यारी ने पूछा। कि तुम मास्टर साहब की जूठी तश्तरी में खा रही हो! हरप्यारी ने हौले से कहा—कोई यहाँ देख थोड़े ही रहा है! बुद्धि हौले से बोली—और कोई न देखे, ईश्वर तो देखते हैं! हरप्यारी ने बहुत हौले से कहा—ईश्वर तो सब जानते हैं। बुद्धि ने बहुत हौले से कहा—कि तुम मास्टर साहब को 'देवता' मानती हो? तब हरप्यारी ने भीतर ही भीतर कहा—हाँ।

... ...

कल मास्टर साहब को इस घर में आये एक महीना हो चुका। एक महीने में हरप्यारी ने उन की सब आदतें छुड़वा दी हैं। जैसे किसी बालक को धीरे-धीरे सब सिखाया जाता है, उसी तरह हरप्यारी ने मास्टर साहब को बिना मुँह खोले समझा दिया है कि कौन काम उन के करने का है और कौन नहीं। हरप्यारी जब जो करती है, सब सह लेते हैं। उस की सब सेवा-शुश्रूषा स्वीकार हुई है—देख कर आनन्दातिरेक से हरप्यारी का हृदय-कमल खिल उठा है।

जाने कितने मन से, कितने परिश्रम से वह प्रतिदिन उन के लिये

खाना बनाती है; पर पहिले दिन की तरह किसी भी दिन उन्होंने महरिन से नहीं कहा कि—आज खाना बहुत अच्छा बना, आज फलाँ चीज़ बहुत अच्छी लगी। न कहें। हरप्यारी को मानो इस की तनिक भी परवाह नहीं है।

जाने कितनी मेहनत से वह उन का कमरा साफ़-सुथरा करके सब चीज़ें सजा कर करीने से रखती है। पर एक भी दिन उन्होंने उधर दृष्टिपात न किया। न देखें। हरप्यारी को मानो इस के लिये तनिक भी अवसाद नहीं है।

वह उन की इतनी चिन्ता रखती है। दिन-रात उन के सुख की कामना करती है। मन और आत्मा दोनों सेवा में लगा दिये हैं। पर उन की ओर से ऐसा कोई प्रतिदान नहीं पाया; अपने अध्यवसाय के लिये कभी उन के मुँह से एक 'शब्द' तक सुनने को न मिला। फिर भी मानो हरप्यारी प्रसन्न है।

वह इसी तरह अपने सारे जतन से उन का खाना बनाती रहेगी, उन का कमरा सजाती रहेगी, उन के सुख की चिन्ता करती रहेगी। मन और आत्मा से उन की सेवा में लगी रहेगी।

उसे बहुत सन्तोष है, बहुत !...

दरवाज़े पर, मकान की हद के भीतर एक 'कनेल' का पेड़ है। बहुत पुराना है वह। जड़ के पास ढेरों मिट्टी-गुट्टी इकट्ठी हो गई थी। देखते-देखते जी हो आया तो 'खुरपी' ले कर उसे ठीक करने बैठ गई। बहुत बल लगा कर मिट्टी खोद कर इकसार किया; ईंटें-गुट्टी उठा कर दूर फेंक दीं, फिर 'खुरपी' से सब ज़मीन ठीक कर चिकना-चिकना कर दिया। माथे पर पसीने की बूँदें झलझला आईं मेहनत से। खड़ी हो कर देखने लगी—अब कैसा सुन्दर लगता है ! तभी ख्याल आया कि अरे, कहीं मास्टर साहब न आते हों और हाथ में खुरपी लिये तुम्हें यहाँ खड़ा देखें ! तो झटपट भीतर को चली कि पीठ मोड़ते ही 'खट' करके कोई चीज़ पीछे गिरी। और हरप्यारी ने सिर घुमाया तो एक क्षण में दो चीज़ें दीखीं। उस के पैरों के पास एक कंकड़ कागज़ में

लिपटा पड़ा है और दरवाज़े पर मास्टर साहब स्तब्ध-से खड़े हैं, छाता हाथ में लिये। पलक मारते हरप्यारी भीतर चली गई और पलक मारते मास्टर साहब ने देखा कि सामने जिस छत से यह कागज़ लिपटा कंकड़ आया है, वहाँ कोई आदमी आड़ में हो गया। मास्टर साहब ने झुक कर वह कंकड़-कागज़ उठा लिया और अपने कमरे में आ गये।

हरप्यारी चकित और त्रस्त हो कर थर-थर काँपती खड़ी थी। वह ठीक तरह से सब घटना नहीं समझ सकी थी, तो भी घबरा गई थी कि क्या हुआ यह अभी ? किस ने फेंका था वह ? मास्टर ने कंकड़ हटा कर कागज़ देखा तो उस पर कुछ लिखा हुआ था। बड़ी देर तक उसे हाथ में लिये पढ़ते रहे, फिर बड़ी देर तक उस कागज़ को यों ही पकड़े रहे, फिर जाने क्या सोच कर उसी तरह उस में वह कंकड़ लपेट दिया और हरप्यारी की कोठरी में फेंक गये खट् से।

घबराई हुई हरप्यारी ने तत्क्षण वह कागज़ उठा कर पढ़ा तो उस के होश उड़ गये कि जिस में यह दोहा लिखा था किसी ने कि—'प्यारी, तुम से मिलने की आशा लगी है; दिन-रात मैं तुम्हारे विरह में जल रहा हूँ। जिस दिन तुम मेरे कलेजे से लगोगी, उस दिन यह आग बुझेगी; मैं सारी रात तुम्हें कलेजे से लगाये रहूँगा...' हरप्यारी ने सब बात समझ ली। वह वहीं धरती पर बैठ कर रोने लगी।

मास्टर साहब क्या यह रुदन सुन पाये हैं, क्या उन्होंने छर्-छर् गिरते इन आँसुओं को देख लिया है ?

स्वप्न की तरह हरप्यारी ने जाना कि मास्टर साहब उस के सामने खड़े हैं। उन के सौम्य मुख पर दुःख और क्रोध की छाया फैल गई है। हतबुद्धि से हो कर अपलक हरप्यारी को देख रहे हैं।

वह तड़ित्वेग से उठ खड़ी हुई और दीवार में अपना काला मुँह दे कर आँसुओं को रोकने लगी।

मास्टर साहब यह प्रथम बार बोले—"तुम इस कागज़ फेंकनेवाले को जानती हो ?"

हरप्यारी ने रुदन रोक कर काँपते कंठ से कहा—"नहीं।"

मास्टर साहब ने बतलाया—"इस सामनेवाली छत से एक आदमी ने फेंका था।"

टप्-टप् हरप्यारी के आँसू गिर रहे हैं।

मास्टर साहब ने कहा—"उस से तुम्हारी जान-पहिचान है?"

रो कर हरप्यारी ने कहा—"मैं तो किसी को नहीं जानती।"

मास्टर साहब ने पूछा—"और कभी उस ने कुछ किया था?"

काँप कर हरप्यारी ने कहा—"एक बार फूल फेंके थे, मेरे ऊपर।"

मास्टर साहब चुप हो रहे।

हरप्यारी ने आँसू गिरा कर कहा—"वह मुझे हमेशा तंग करता रहता है।"

मास्टर साहब ने स्निग्ध स्वर में कहा—"अब कभी जो वह तुम्हें छेड़े तो फ़ौरन मुझ से कहना। उस की सब बदमाशी निकाल दूँगा!"

हरप्यारी आँसू पोंछती खड़ी रही। मास्टर साहब और न बोले तो कनखियों से देखा उधर—चले गये थे।...

उस बेला हरप्यारी ने ख्याल नहीं की। मास्टर साहब को खिला-पिला दिया और आप शिथिल-गात हो कर पड़ रही, खटिया में मुँह दे कर। जाने कितना रुदन उमड़ आया।

... ...

मास्टर साहब को शायद वेतन मिला था। महरिन को पास बुला कर पाँच-पाँच के तीन नोट दिये और कहा कि—जा कर पूछो, अपने पास से कितना और खर्च किया है।

महरिन ने तीनों नोट हाथ में दे कर पूछ लिया।

हरप्यारी चकित-सी उस का मुँह देखती रही, फिर मुसकरा कर बोली—"अपने पास से भला मैंने क्या खर्च कर दिया है! दो-तीन आने खर्च हुये होंगे।"

महरिन ने आ कर वही कह दिया तो बाबू अचरज से बोले—"दो-तीन आने! दो-तीन आने ही खर्च हुये हैं—लिख कर नहीं रक्खा शायद हिसाब।"

"नहीं, लिखा नहीं है।"

"लिखना चाहिये था, जिस तरह से यह सामान का हिसाब लिखा है।"—मास्टर साहब ने कहा। फिर दो रुपये और दे कर बोले—"लो; जा कर कहो कि अपना खर्च किया हुआ भी लिखा करें।"

महरिन वे रुपये ले कर आई, तो हरप्यारी ने पूछा—"ये काहे के दिये?"

महरिन बोली हँस कर—"दो-तीन आने हैं ये और अब हिसाब लिखने को कहा है।"

हरप्यारी नोटों को यों ही हाथ में लिये बैठी थी। महरिन जब वे रुपये थमाने लगी तो हरप्यारी ने रोक कर कहा—"लो-लो, यह सब ले जाओ। कहना कि एक धोती मुझे ला दें और बाक़ी रुपये अपने ही पास रख लें। कह देना कि वह बड़ी बेवकूफ़ है; खो जायेंगे इस से।" और नोट उसे दे दिये।

महरिन फिर लौट आई। बाबू से आ कर कहा—"उस के लिये एक धोती ला दो बाबू, और बाक़ी ये रुपये अपने ही पास धर लो। जब ज़रूरत पड़ेगी, माँग लेगी।"

मास्टर साहब के ओठों पर तनिक-सी मुसकराहट आई। हौले से कहा—"अच्छा।" और रुपये लौटा लिये सब।

हरप्यारी ने एक गहरे सन्तोष की साँस ली, फिर वह बड़े उत्साह से खाना बनाने चली।...

दिन में वर्षा के कुछ आसार न थे। पर साँझ होते-होते चारो ओर घटायें घिर आईं। आँगन के ऊपर, दरवाज़े के पार, खिड़कियों से सब ओर सुरमई रंग बह रहा था। जाने कहाँ कोई बाँसुरी बज रही थी। गली से ग्वाला अपनी गायें लिये चला जा रहा था और उस के पीछे मुहल्ले के छोटे-छोटे तीन-चार बालक चिल्लाते आते थे—

'आँधी आई, मेंह आया
तेली का दामाद आया,
लिये पोटरा भागा आया।'

दरवाज़े का 'कनेल' धीरे-धीरे झोंके ले रहा था। उस की लाल

फूलों से लदी डालें ऊँची उठ-उठ कर गिर जाती थीं। आकाश के बीच एक रंगीन पतंग फुर-फुर करती उड़ रही थी।

हरप्यारी खिड़की में झुक कर देखने लगी और हृदय में सिहरन हो-हो कर उसे कँपाने लगी। घटायें उमड़-घुमड़ रही थीं और जाने कहाँ कोई बाँसुरी बज रही थी।

महरिन चूल्हा सुलगा कर बाहर निकली तो आँगन में अँधेरा झुका देखा। ज़ोर से बोली—"बिट्टो री, मैं तनिक घर जा कर खाटें उठा आऊँ; अभी आई।"

हरप्यारी ने ध्यान न दिया। वह बाँसुरी की लय सुन कर 'गीत' याद आ रहा था। और उस के अनजाने ही वह गीत ओठों पर आ कर गुनगुनाने लगा—

'आली, वन बोलन लागे मोर,
ऋतु पावस अब धावत आवति; घन गरजहिं चहुँ ओर।
सखी वन बोलन लागे मोर'...

आँखें उन जल-भरे मेघों पर लगी थीं। जाने किधर से एक बूँद उस की पलकों पर आ गिरी। कितनी नन्हीं, कितनी ठंडी!

आँगन में पैरों की आवाज़ सुन कर आह्लाद से भरी हरप्यारी बोली—"देखो तो, कैसी काली घटायें आई हैं!"

महरिन ने कुछ न कहा। बोली—"इधर तो आओ तनिक, देखो तो!" महरिन न आई। तो सिर घुमा कर पुकारने को हुई। मैय्या री, मास्टर साहब हैं!

लाज से गड़ कर हरप्यारी वहीं सिमिट कर बैठ गई।

मास्टर साहब शायद तनिक-सा मुसकराये, फिर कागज़ में लिपटी धोती वहीं चौखट के पास रख कर कहा—"यह धोती—"

यह इतना ममत्त्व, इतनी दया-करुणा, इतनी सहानुभूति हरप्यारी ने पा ली है। वह विभोर हो गई है। आज जो वह मर जाये तो भी दुख न होगा। मास्टर साहब जो हैं! जीवन की अन्तिम घड़ी तक उन की यह कृपादृष्टि मिलेगी।...

हरप्यारी वह धोती पहिन कर खड़ी हुई तो उस के मुख पर जाने कितनी लुनाई' आ गई। अकारण ही उन मीठे ओठों पर हँसी नाचने लगी और शरमाते-शरमाते महरिन से पूछा—"ठीक है ?"

"बहुत खिली है तुम्हारे मुँह पर !"—महरिन खुश हो कर बोली--"बड़ी सुन्दर लग रही है तुम्हारी देही पर। किनारी बहुत बढ़िया है इस की।"

हरप्यारी तनिक लजा कर कमरे में धीरे-धीरे टहलने लगी।

मास्टर साहब बाहर गये हुये थे। सहसा उन की किवाड़ें खुलने की आवाज़ हुई। महरिन ने झुक कर देखा और बोली--"लो, बाबू आ गये।"

हरप्यारी धीरे-धीरे मुसकराती बोली—"आ गये ?"

"हाँ," महरिन बोली, उस धोती को देखती—"जाओ, उन्हें दिखा आओ !"

"चुप रहो !"—हरप्यारी ने भवें तिरछी कर के कहा। मुख पर लाज की रक्तिमा आ गई; पर ओठों पर से वह मुसकराहट न गई।

महरिन हँसती-हँसती उठ गई।

हरप्यारी उस धोती को उतारने लगी। फिर जाने क्या सोच कर वह उसे पहिने ही रही और उसे चारो ओर से समेट कर लजाती-लजाती बाहर को आई और अकारण ही नल की ओर चल दी आँगन के बीच से कि जहाँ से मास्टर साहब के खुले कमरे की कुरसी दीखती थी। अकारण ही उस ने नल खोला; बिना प्यास के एक घूँट पानी पिया। फिर उसी तरह लजाती-लजाती चारो ओर से धोती को समेटे चली आई आँगन के बीच से कि जहाँ से मास्टर साहब...

क्या उन्होंने देखा ? क्या हरप्यारी को अपने हाथों से खरीदी धोती पहिने देखा ? क्या खुश हुये...

म्युनिसिपैलिटी का चपरासी आवाज़ लगा कर पानी के 'टैक्स' का बिल फेंक गया ड्योढ़ी पर। हरप्यारी ने रकम पढ़ कर कहा महरिन से—"कल तुम दे अइयो दफ्तर में।"

"रुपये हैं तुम्हारे पास ?"

"मेरे पास दो हैं; बाक़ी आज उन से माँग लेना। कल दे ज़रूर आना, नहीं तो जमादार आ कर चिल्लायेगा।"

सो शाम को जब बाबू खाना खा चुके, तो महरिन ने कहा कि—रुपये दो चार। कल चुंगी में देना है, नल का किराया।

तो मास्टर साहब ने तनिक हँस कर कहा कि रुपये तो सब खर्च हो गये!

महरिन पूछने लगी—"काहे में खर्च कर दिये ?"

तनिक-सा हँस कर बोले—"एक लड़के की फ़ीस नहीं जमा हुई थी तीन महीने से। उस का नाम कट जाता। उसे दे दिये।"

हरप्यारी ने सुन लिया। महरिन लौट कर आई तो वह बैठी हँस रही थी। बोली—"लो, अब कहाँ से दोगी टैक्स ? रुपये तो लड़के की फ़ीस में चले गये सब।"

महरिन गाल पर हाथ धर कर बैठ गई और हौले-हौले मुचकराने लगी तो हरप्यारी 'खिल-खिल' करके हँस पड़ी। हँसते-हँसते लोट गई खाट पर।

... ...

पर सुबह को मास्टर साहब जब स्कूल जाने लगे तो महरिन को बुला कर दस रुपये का नोट दे दिया एक।

"कहाँ से मिल गया ?"—महरिन ने पूछा तो बहुत ही शान्त स्वर में कहा—"एक अँगूठी बेकार पड़ी थी मेरे पास, उसे बेच डाला।"

महरिन चुप हो कर चली आई। नोट हरप्यारी के सामने ला धरा। उस ने भी देखते ही पूछा—"कहाँ से ले आये ?"

महरिन बोली—"अँगूठी बेच कर लाये हैं।"

हरप्यारी के चेहरे का रंग उड़ गया। निःशब्द हो कर उस नोट को देखती रही और गहरी उदासी उस के मन पर छा गई।...

दोपहर को महरिन लौटी तो देखा कि—चूल्हा जला ही नहीं है;

बरतन ज्यों के त्यों रक्खे हैं और हरप्यारी अपने कमरे में गुमसुम पड़ी है।

पास आ कर पूछने लगी—"क्यों, आज रोटी क्यों नहीं बनाई ?"

हरप्यारी ने करवट बदल कर कहा—"मैं रोटी नहीं बनाऊँगी।"

"क्यों ?"

"मैं हरगिज़ नहीं बनाऊँगी। चाहे भूखे रहें, चाहे बाज़ार से ला कर खा लें।"

महरिन बोली—"इतनी नाराज़ हो गई हो बाबू से ! ऐसा क्या किया है उन्ने ?"

हरप्यारी ने तुनुक कर कहा—"यह बताओ, अँगूठी क्यों बेची ? जब अँगूठी लौटा लायेंगे तब रोटी बनेगी, नहीं तो नहीं बनेगी। आते होंगे, तुम कह देना; बस।"

दस मिनिट बीतते-बीतते बाबू आ गये। महरिन ने उन के बैठते ही कहा कि—आज रोटी नहीं बनी है।

"क्यों ?"—मास्टर साहब ने चिंतित हो कर पूछा।

महरिन बोली—"बिट्टो तुम से नाराज़ हो गई है। अँगूठी क्यों बेची ?"

"अरे !"—मास्टर साहब ने तनिक-सा हँस कर कहा, फिर रुक कर बोले—"टैक्स जो देना है।"

"उस का इन्तज़ाम हो जायगा। तुम वह अँगूठी लौटा लाओ। जब तक अँगूठी लौटा कर न लाओगे; बिट्टो रोटी न बनायेगी !"

मास्टर साहब ने मुसकरा कर कहा—"अच्छा।" और स्कूल के कपड़े पहिने उसी तरह उठ दिये। महरिन वह नोट हाथ में पकड़ा गई।...

घंटे भर बाद लौटे तो खाना क़रीब-क़रीब बन चुका था। अँगूठी वह लौट आई और महरिन हरप्यारी के सामने उसे रख गई। दाल छौंकने के लिये चिमचा रक्खा था चूल्हे में।

हरप्यारी के जी का बोझ अँगूठी देख कर हलका हो गया।

वह अँगूठी बहुत क़ीमती हो गई थी। भूल न जाऊँ पड़ी—सोच कर उसे उठा लिया और फिर बड़े चाव से अपनी अँगुली में पहिन ली।

... ...

दूर के रिश्ते की कोई मौसीजी रहती थीं, घाट किनारे। हरप्यारी ने उन के यहाँ अपने झुमके गिरवी रक्खे, फिर महरिन के साथ गंगा नहा कर लौट आई। सड़क पर पानी की सुराहियाँ बिक रही थीं। महरिन से कह दिया कि—एक सुराही ख़रीद लो और अपना जल्दी-जल्दी क़दम रखती गली से हो कर आने लगी। जब उस मकान के पास से हो कर गुज़र रही थी, तो सूनी गली में से आवाज़ आई—"अरे ज़रा सुनो तो !"

हरप्यारी चौंक कर चारो ओर देखने लगी तो बायीं ओर वाले झरोखे में वही फूलों का गुच्छा और कागज़-कंकड़ फेंकनेवाला खड़ा दीखा। हरप्यारी का ख़ून सूखने लगा। वह अपनी आँखों में अनन्त प्यास भरे, उसे आँखों से पी कर बोला—"मुझे कब तक सताओगी ?" हे ईश्वर ! हरप्यारी काँपते पैरों से बल लगा कर आगे को भागी। पीछे से वही आवाज़ आ रही थी—"मेरा क़त्ल किये जाओ, मार डालो मुझे ! इतना जुल्म !"...

मास्टर साहब घर पर न थे। हरप्यारी धक्-धक् होता कलेजा लिये सूखी-सी बैठी थी। महरिन सुराही ले कर आई और ऐसा सफेद चेहरा देखा तो भौंचक रही। क्या हुआ ? तब हरप्यारी ने सारी बात सुना दी। महरिन चिल्ला कर बोली—"हरामज़ादे को अभी जूतों से पिटवाऊँगी। आने दो बाबू को ! इतनी हिम्मत की उस ने ! तेरी लास उठे, तेरे कीड़े पड़ें ! मैं अभी बाबू से कहूँगी, जेल करवा दूँ लगे की !"

तो हरप्यारी ने काँपती आवाज़ से बिनती करके कहा—"उन से मत कहना चाची, तुम्हारे हाथ जोड़ूँ, कुछ मत कहना ।" और वह फफक-फफक कर रोने लगी। छुट्टी थी। खाना बना रक्खा रहा; पर

मास्टर साहब सुबह के गये, शाम तक न लौटे। हरप्यारी ने न खाया; यों ही दुःख और उदासी मे डूबी बैठी रही और दरवाज़े पर आँखें गड़ाये रही। यहाँ तक कि अँधेरा झुक आने लगा और सड़क पर की बत्तियाँ जल उठीं। और ज्यों-ज्यों समय बीतने लगा, उस की घबराहट बढ़ने लगी।...जो वह हत्यारा अभी चुपके से घर में घुस आवे!...

कोई नहीं है—कोई भी रक्षा करने वाला नहीं है!...क्षण भर में उस की धड़कन दुगुनी हो गई। भाग कर दरवाज़े की किवाड़ें देने आई, तो सामने ही मास्टर साहब को खड़ा पाया। जाने क्या हो गया, जाने कितनी कातर हो गई थी, उन्हें देखते ही रुद्ध कंठ से कह उठी—"कहाँ चले गये थे?" और आँखों में आँसू भर आये।

मास्टर साहब जैसे चौंके; क्षण भर रुक कर कहा धीरे से—"देर हो गई—" भीतर को आ गये और किवाड़ों की साँकल चढ़ा दी।

ग्लानि में डूबी हतबुद्धि हरप्यारी वहीं-कोने मे दीवार से सटी खड़ी थी। अरे, अभी उस ने यह क्या कहा है! क्या सोचते होंगे अपने मन में?

मास्टर साहब छज्जे के नीचे हो कर अपने कमरे में जा रहे थे। लेकिन यह क्या? पैर लड़खड़ा रहे हैं, गिरे जाते हैं!

हरप्यारी चिन्तातुर हो कर लपकी। उधर मास्टर साहब ने भड़ाक से किवाड़ें खोलीं और बिस्तर पर गिर पड़े।

क्या हुआ है इन्हें? भयभीत हो कर देखने लगी किवाड़ों पर आ कर। क्षण भर बीता होगा कि कराह कर बोले—"पानी।" और करवट बदल ली।

हरप्यारी काँपते हाथों से गिलास भर लाई। मास्टर साहब ने न जाना; गुमसुम पड़े थे; उधर को करवट लिये। कम्पित स्वर मे बोली—"पानी—" तो कराह कर उठ बैठे। गिलास ले लिया और गट्-गट् करके सब पानी पी गये। हरप्यारी खाली गिलास उठा ले

चली। आँगन में आई होगी कि 'अड़अड़' करके मास्टर साहब को उलटी हो गई। हरप्यारी गिलास वहीं छोड़ कर भागी आई, तो खाट की पाटी पर सिर लटका हुआ था और हाँफ रहे थे और नीचे फ़र्श पर 'क़ै' गिरी थी।...

रात को दो बार और क़ै हुई। और हरप्यारी ने हर बार उसे साफ़ किया और अर्द्ध-मूर्च्छित मास्टर साहब को सम्हाल-सम्हाल कर लिटाया और उन का मुँह पोंछा अपनी धोती से और सारी रात वहीं पैरों के पास जागती रही। मास्टर साहब बेहोशी में हाथ-पैर पटक कर "उफ़्!" कहते तो हरप्यारी रोने लगती। उन का रक्तहीन मुख देखती और रोती; रो कर कहती—"परमात्मा, दया करो; परमात्मा दया करो!...

तीसरा पहर खिसके मास्टर साहब को नींद आ गई।

... ...

सूर्योदय पर आँखें खोलीं तो डोरे लाल दीखे। चेहरा सुर्ख़ और नाड़ी खट्-खट् उछल रही थी बहुत तेज़ी से। शायद माथा फिरा रहा है। आँखें फाड़ कर हरप्यारी की ओर देखा और तकिया पर सिर पटक कर, पलक दे कर कहा—"प्यास—पानी—"

हरप्यारी पानी लेने दौड़ी। महरिन आ गई थी। उस ने रोक दिया, बोली—"पानी मत दो बेटी, तनिक में कुछ नुकसान कर जाय। देखती नहीं हो, ऐसा हाल है, रात इतनी क़ै हुई हैं, आँखें चढ़ी है! डाक्टर को बुला लाऊँ कहो तो।"

"जल्दी से बुला लाओ चाची, जाओ।" हरप्यारी ने सफेद चेहरे से कहा। उस के ओंठ सूख गये थे और खड़ी-खड़ी काँप रही थी थर-थर।

... ...

बीस-बाईस दिन तक विषम ज्वर की भयानक अवस्था में रह कर मास्टर साहब तकिये के सहारे उठ कर बैठे। हरप्यारी की प्रसन्नता का ठिकाना न था। इन बीस-बाईस दिनों में उस ने कितनी रातें

जग कर निकाली हैं; कितने उपवास किये हैं, ईश्वर ही जानते हैं। हृदय की सब शक्ति लगा कर, ईश्वर से अहर्निशि करुण पुकार करके वह मास्टर साहब को मृत्यु के मुख से लौटा लाई है। ये सारी रातें टकटकी बाँध कर उन का मुख देखते, आँसू बहाते बिता दी हैं। सारे-सारे दिन वह दवा देती, पंखा झलती खड़ी रही है, तन-बदन का होश खो कर। और छोटी-मोटी सब चीज़ें गिरवी रख कर—बेंच कर उस ने डाक्टर साहब की फ़ीसें दी हैं—दवायें ख़रीदी हैं—इंजेक्शन दिलवाये हैं। हरप्यारी की मुख-छवि क्लान्त हो गई है। चेहरा पीला पड़ गया है, जाने कितनी कृश हो गई है। बीसों दिन उस की हालत तरस दिलाती रही है।

पर अन्त में उस ने सब तपस्या का फल पा लिया। मास्टर साहब तकिये के सहारे उठ कर बैठे। हरप्यारी की प्रसन्नता का ठिकाना न था।...

उस दिन बाल धो कर नहाई। नहा कर वही धोती पहिनी। फिर एक थाली में चन्दन-फूल सजा कर पास के मंदिर में पूजा करने गई। न जाने क्या भगवान् से बिनती की। लौटी तो भीतर घुसते हुये देख लिया। क्षीण-सी आवाज़ से पुकारा—"यहाँ आओ!" काले बाल पीठ पर बिखरे थे; माथे के ऊपर धोती की सुन्दर-सी किनारी चमक रही थी। भवों के ऊपर लाल बिन्दी जड़ी थी। आँखों में लाज भरी थी और ओठों में मुसकराहट। हाथ पर थाली थी, ज़मीन पर नज़र गड़ी थी। हौले से कहा, वीणा के स्वर में—"क्यों?"

तनिक-सा मुसकरा कर बोले—"प्रसाद नहीं मिलेगा?"

हरप्यारी ने ओठों में मुसकराहट छिपाये-छिपाये थाली सामने की, फिर सीधे हाथ की पतली सुकुमार अँगुलियों से एक गुलाब का फूल उठा कर उन की गोदी में रख दिया और ज़मीन पर नज़र गड़ाये चली गई, भीतर ओठों में मुसकराहट छिपाये।...थोड़ी देर पीछे पथ्य ला कर दिया। थाली सामने रक्खी तो हौले से कहा—"इस में से एक ग्रास निकाल दीजिये पहिले।"

मास्टर साहब तनिक-सा मुस्कराये, एक ग्रास निकाल दिया अलग और पूछा—"अब खाऊँ ?"

"हाँ।"—नीचे को नज़र डाल कर कहा और भाग गई।

पानी ले कर आई इस बार। मास्टर साहब गिलास लेने लगे तो अँगुलियों पर दृष्टि पड़ी। प्रसन्न हो कर बोले—"वही अँगूठी है यह?"

"हाँ।"—नीचे को नज़र डाल कर कहा और भाग गई।

फिर जब घंटे भर बाद दवा की एक ख़ुराक पिला कर प्याली नीचे रख दी तब वहीं पाटी के पास बैठ कर वह अँगूठी उतारी और दो पतली सुकुमार अँगुलियों से पकड़ कर सामने करके कहा हौले से—"लीजिये—"

मास्टर साहब धोक दिये बैठे थे। तनिक बल लगा कर सीधे हुये और हाथ बढ़ा कर कहा—"लाओ।"

फिर उसी समय हरप्यारी की सुन्दर-सी कलाई पकड़ ली। खींच कर हाथ गोदी में रख लिया और उसी अँगुली में अँगूठी पहिना दी और उसी तरह धोक लगा लिया और करुण स्वर से बोले—"अब कभी इसे मत उतारना!"

हरप्यारी मंत्र-मुग्ध हो बैठी रही। नीचे को सिर किये बोले—"तुम से कभी उऋण होने की बेला नहीं आयेगी, अब इस जीवन में—"

... ...

चार-पाँच दिन बाद, जब थोड़ा-सा बल आया तो एक दिन ताँगे में बैठ कर स्कूल गये। उस दिन सिर्फ हाज़िरी दे कर लौट आये। दूसरे दिन भी इसी तरह किया। तीसरे दिन गये तो बारह तक न लौटे। फिर एक बजा—दो बजे—तीन बजे। शाम आ गई, फिर दिये जल गये। पर मास्टर साहब न लौटे।

हरप्यारी चिन्तित हो कर बाहर दरवाज़े पर खड़ी हो कर गली में दूर तक देख कर लौट आती। आ कर बैठ जाती; सोचती—कहाँ रह गये? किसी बिपदा में तो नहीं फँस गये? चाहे अब आते हों! और

उठ कर फिर दरवाज़े पर आ खड़ी होती; गली में दूर तक आँखें दौड़ा कर देखती। रात घिरती चली आ रही थी।

ज़रा पलकें झपतीं, खटका होता और उठ बैठती; दरवाज़े पर लालटेन ले कर आती, किवाड़ें खोल कर देखती—साँय-साँय हो रही है, निबिड़ अँधेरा घिरा है। जी को बहुतेरा ढाढ़स बँधाती, पर ज़रा सब्र न होता। हाय, क्या हो गया? कहाँ होंगे? इतने कमज़ोर हैं; हे ईश्वर, कुशल क'रयो!...इसी तरह सारी रात चिन्ता-फ़िक्र करते, जगते कट गई।

... ...

लालटेन जल रही थी और हरप्यारी दीवार के सहारे बैठी-बैठी सो गई थी। पौ फट चुकी थी और सूर्य की हलकी छाया पूरब के किनारे छाई थी। कहीं किसी मन्दिर में पूजा के बाजे बज रहे थे। कि दरवाजे पर खट्-खट् सुन कर हरप्यारी की आँख खुली। और पागलों की तरह वह भागती आई और जल्दी से किवाड़ हटाये।

जाने कौन एक बूढ़े-से सज्जन छड़ी के बल खड़े थे और दरवाजे पर 'कार' रुकी थी। हरप्यारी अवाक् हो कर उन्हें देखने लगी तो छड़ी टेकते-टेकते पास आये और एक बार हरप्यारी को नीचे से ऊपर तक देख कर बोले—"बेटी, तुम्हीं इस मकान की मालकिन हो?"

हरप्यारी ने हौले से कहा—"जी—"

"तुम्हारे इस घर में कोई किरायेदार आ कर रहा है? नौजवान-सा; आँखें बड़ी-बड़ी हैं; नंगे सिर रहता है; बायीं भौंह पर एक दाग़ है चोट का। रहता है कोई?"

हरप्यारी ने धीरे से कहा—"जी; रहते तो हैं। वे कल सुबह के गये हैं, सो अभी तक नहीं लौटे—"

वृद्ध महोदय क्षण भर उस का मुँह देखते रहे, फिर गरदन झुका ली और गद्गद कण्ठ से बोले—"उसे पता लग गया होगा। तभी तो चला गया यहाँ से!"

हरप्यारी ने चकित भाव से पूछा—"आप क्या उन्हें जानते हैं?"

वृद्ध ने सजल आँखों से उस की ओर देख कर कहा—"मैं उसका 'पिता' हूँ।"

हरप्यारी स्तब्ध हो कर खड़ी रही।

तब वे बोले—"घर से नाराज़ हो कर चला आया है। साल भर हुई। हमें अपना मुँह नहीं दिखाया। कितना तलाश किया; कितना दुख उठाता फिरता हूँ; पर उस बेरहम को मुझ पर दया नहीं आती!" कह कर रो उठे।

हरप्यारी ने कातर हो कर पूछा—"क्यों हो गये हैं नाराज़?"

उन्होंने कहा—"मेरी ही ग़लती हुई। उसकी 'शादी' ठहरा ली थी, एक जागीरदार की लड़की से। उस ने मना किया। बोला—मैं तो किसी ग़रीब-विधवा से शादी करूँगा। मैंने ज़िद की। मुँह से निकल गया कि—मेरा कहना न मानोगे तो घर से निकाल दूँगा तुम्हें। उस वक़्त तो चुप रहा। सगाई जिस रोज़ चढ़ने को थी, ग़ायब हो गया घर से। तब से फिर न मिला देखने को!"

हरप्यारी चुप रह गई।

बोले—"उसे किसी ने बतला दिया होगा कि मैंने उस का पता पा लिया है। अब जाने किस शहर में पहुँचा होगा। यहाँ अब हरगिज़ न आवेगा!"

हरप्यारी सुन्न खड़ी रही।

आँखें पोंछते चल दिये, दो क़दम गये, फिर लौट आये। छड़ी टेक कर बोले—"बेटी, इतनी दया करना मुझ अभागे पर कि वह अगर यहाँ कभी भूला-भटका आवे तो मुझे फ़ौरन 'तार' कर देना और उस से कह देना कि—तुम्हारे पिता तुम्हारी शादी ग़रीब-विधवा से करने को राज़ी हैं। यह मेरा पता है।" कह कर एक 'कार्ड' दिया और कार में जा बैठे और कार चली गई।

... ...

पागलों की तरह हरप्यारी दो दिन तक इधर से उधर घूमती रही। मास्टर साहब के कमरे में जा खड़ी होती। चारो ओर देखती और

घबरा कर निकल आती। उस की आँखों में आँसू न थे। ज़ुबान में शब्द न थे। देही में दिल न था। पागलों की तरह घूम रही थी।

महरिन ने उस कष्ट को पहिचान लिया था। वह जाने कितनी सांत्वना देती रही; कितना समझाती रही; पर हरप्यारी के कानों में कुछ न गया।

उस दिन साँझ को महरिन ने साँस खींच कर कहा—"अब वे शायद ही लौटेंगे। यहाँ होते तो ज़रूर आते। चार दिन और चार रातें हो चुकीं। चले गये यह शहर छोड़ कर। यहाँ उन का था ही क्या! एक 'कच्चा धागा' था; वह टूट गया। तुम अब दुःख मना कर क्या कर लोगी!"

हरप्यारी ने शान्त स्वर में कहा—"ऐसा मत कहो। ज़रूर लौट कर आयेंगे—" और खिड़की पर जा खड़ी हुई। बादल छाये थे चारो ओर। हरप्यारी कान लगा कर सुनने लगी। बोली—"चाची, कोई बंशी बजा रहा है।" महरिन चुप रही। हरप्यारी गुनगुनाने लगी—'आली, वन बोलन लागे मोर...'

वकील साहब का रमोइया, जानकी दूध ले कर आ रहा था गली से। हरप्यारी को खिड़की में गाते देखा तो तनिक आगे बढ़ कर चिल्ला उठा—"मार डाला!"

पर हरप्यारी ने न सुना। गाती रही—'आली, वन बोलन लागे मोर...'

समाप्त

हमारी प्रकाशित पुस्तकें

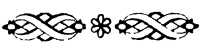

कविवर रत्नाकर

लेखक—पं० कृष्णशंकर शुक्ल एम. ए.

इस पुस्तक में बा० जगन्नाथदास रत्नाकर की रचनाओं का आलोचनात्मक परिचय बड़ी गवेषणा के साथ विद्वान् पं० कृष्णशंकर शुक्ल ने किया है। तुलसी, सूर के बाद जो कवि हमारे साहित्य में महत्व का स्थान रखते हैं उनमें रत्नाकरजी का एक बहुत ही विशिष्ट स्थान है। भाव, व्यंजना, भाषा अलंकार इत्यादि प्रकरणों के अन्तर्गत उनकी रचनाओं के भिन्न-भिन्न अंगों का विषद तथा मार्मिक विवेचन इसमें किया गया है। इस पुस्तक में आलोचना एक नवीन ही शैली से की गई है! हिन्दी साहित्य के विद्यार्थियों जैसे बी. ए., एम. ए, विशारद, साहित्यरत्न, हिन्दी कोविद के छात्रों के लिए तो बहुत ही उपयुक्त है। थोड़ी ही प्रतियाँ बची हैं। शीघ्र इस पुस्तक को मंगा कर अपनी लाइब्रेरी की शोभा बढ़ाइए। मूल्य सिर्फ ४) रु.

यान्त्रिक आविष्कार

लेखक—महेन्द्रचन्द्र राय बी. ए.

वर्तमान युग यन्त्रों के द्वारा जो अपनी करामात दिखा रहा है उस का इस पुस्तक में विषद वर्णन है। इस आधुनिक युग में यन्त्रों के द्वारा मनुष्य को कितनी सुविधाएँ हो रही हैं और इन यन्त्रों के द्वारा दूर रहने वाले भी इतने निकट हो गए हैं यह सब विज्ञान का ही करिश्मा है। सैकड़ों आविष्कार किस किस तरह किस किस के द्वारा संसार के सामने आए, इसको पूरी व्याख्या सहित दर्शाया गया है! एक बार अवश्य पढ़िए। मूल्य सिर्फ १॥)

दोनों की भूल

लेखक—श्री व्यथित हृदय

इस उपन्यास के निर्माता हिन्दी संसार के बहुत जाने हुए व्यक्ति हैं। हिन्दी संसार ने उनकी रचनाओं का अच्छा आदर किया है! इस उपन्यास में एक नवीन चरित्र और नवीन कल्पना है जिसने मानव समुदाय में एक हलचल पैदा कर दी है। पुस्तक इतनी रोचक है कि बिना समाप्त किए छोड़ने को मन ही नहीं करता। मूल्य सिर्फ १।)

आँखों देखा महायुद्ध

अनुवादक—श्रीरामचन्द्र वर्म्मा

इस पुस्तक में जर्मनी के एक प्रत्यक्षदर्शी विद्वान् सैनिक की लोह लेखनी से लिखा गया योरोपीय महायुद्ध का भीषण धधकता हुआ सजीव चित्र है। अंग्रेजी में इस के ४२ संस्करण हो चुके हैं। इस पुस्तक में युद्ध क्षेत्र की भीषण ज्वालाएँ, युद्ध के लोम-हर्षण दृश्य, युद्ध की नारकीय यन्त्रणाएँ, युद्ध के भीषण परिणाम अंकित हैं। एक बार आप पढ़िए। गेटअप इतना मनमोहक है कि आप देख कर चकित रह जायेंगे। ४०० पृष्ठ की पुस्तक का मूल्य केवल ३) रु०

टीला

लेखक—पं० द्विजेन्द्रनाथ मिश्र "निर्गुण"

प्रस्तुत पुस्तक निर्गुण जी की दूसरी कृति है। इस की प्रशंसा संसार के प्रसिद्ध समालोचक पं० बनारसीदास चतुर्वेदी के शब्दों में सुनिए—इस कहानी संग्रह को तो पढ़ कर मैं मुग्ध हो गया। इस संग्रह की पहली ही कहानी रावण की तो सहस्रों प्रतियों छपनी चाहिए। इसे तो चित्रित कराने की भी आवश्यकता है। हिन्दू मुस्लिम प्रेम का जीता जागता सजीव चित्र इसमें पाठकों को मिलेगा। निर्गुण जी की इस कलामयी कृति को पढ़ कर आप अवश्य तृप्त होंगे। १५० से ऊपर पृष्ठ मूल्य सिर्फ १)। शीघ्र अपनी प्रति मँगाइए। बहुत थोड़ी प्रतियाँ बची हैं।

कच्चा धागा

यह निर्गुण सीरीज की तीसरी पुस्तक है। निर्गुण जी की प्रशंसा करना तो सूर्य को दीपक दिखाना है। कहानी संसार में आपने जो कीर्ति उपार्जित की है वह बड़े-बड़े कहानी लेखकों को उपलब्ध नहीं हुई है। निर्गुण जी के पात्र सजीव होते हैं। भाषा बड़ी मँजी हुई भाव हृदय को स्पर्श करते हुए पाठकों को एक नई दुनिया में पहुँचा देते हैं। कहानी जब तक पूरी न हो जाय छोड़ने को मन नहीं करता। शीघ्र मँगाइए। मूल्य २) रु०

छाया

लेखक—पं० द्विजेन्द्रनाथ मिश्र "निर्गुण"

निर्गुण जी कहानी संसार में एक माने हुए व्यक्ति हैं। आपकी कहानियाँ इतनी उच्चकोटि की होती हैं कि आपकी मुक्तकण्ठ से बड़े-बड़े विद्वान आलोचकों ने सराहना की है। छाया में है—गाँव की एक अपढ़ नारी, जो शहरू औरत को आदर्श समझती है। युवती विधवा के आँसू जिसका सिन्दूर चिन्ह तक नहीं मिटा है। एक निराश प्रेमी के उच्छ्वास जिसकी आँखें नहीं रहीं। हताश प्रणया रमणी के भाव जिसने पाँच साल बाद पत्र लिखा। छाया की भूमिका यशस्वी कलाकार राय कृष्णदासजी ने लिखी है। पुस्तक का मूल्य है केवल १।) रु०

मँगाने का पता—

शिक्षा सदन

४।१३३, गोबर्द्धन सराय,

बनारस।

हमारी अन्य प्रकाशित पुस्तकें

१	प्रसाद और उनका साहित्य	२॥)
२	डाक्टर सनयातसेन	१॥)
३	उपन्यास कला	२)
४	उत्सर्ग (कहानी) तारापांडे	१।॥)
५	आभा (काव्य) ,,	॥)
६	रेखाएँ (गद्य काव्य) ,,	॥)
७	सीकर (काव्य) ,,	१)
८	फ्रान्स की दो आँखें	१)
९	डाक्टर बनाम पहलवान लड़की (नाटक)	॥=)
१०	आँखों देखा महायुद्ध	३)
११	दोनों की भूल	१)
१२	यान्त्रिक आविष्कार	१॥)
१३	कविवर रत्नाकर	४)
१४	बन्दी (काव्य)	१)
१५	दीपदान ,,	१)
१६	नारी भूषण	१॥)
१७	गद्य प्रकाशिका	१॥)
१८	महारथी अर्जुन	१)
१९	महावीर कर्ण	१)
२०	अशोक	॥)
२१	काव्य कौस्तुभ	१॥)
२२	छाया	१)
२३	टीला	१॥)
२४	कच्चा धागा	२)
२५	मनोवेदना (उपन्यास)	१॥)

मिलने का पता—

शिक्षा सदन

४।१३३, गोबर्द्धन सराय, बनारस।